भर्तृहरिविरचितं

नीतिशतकम्

(प्रस्तावना, हिन्दी-संस्कृत व्याख्या)

डॉ० राकेश शास्त्री

परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला—46
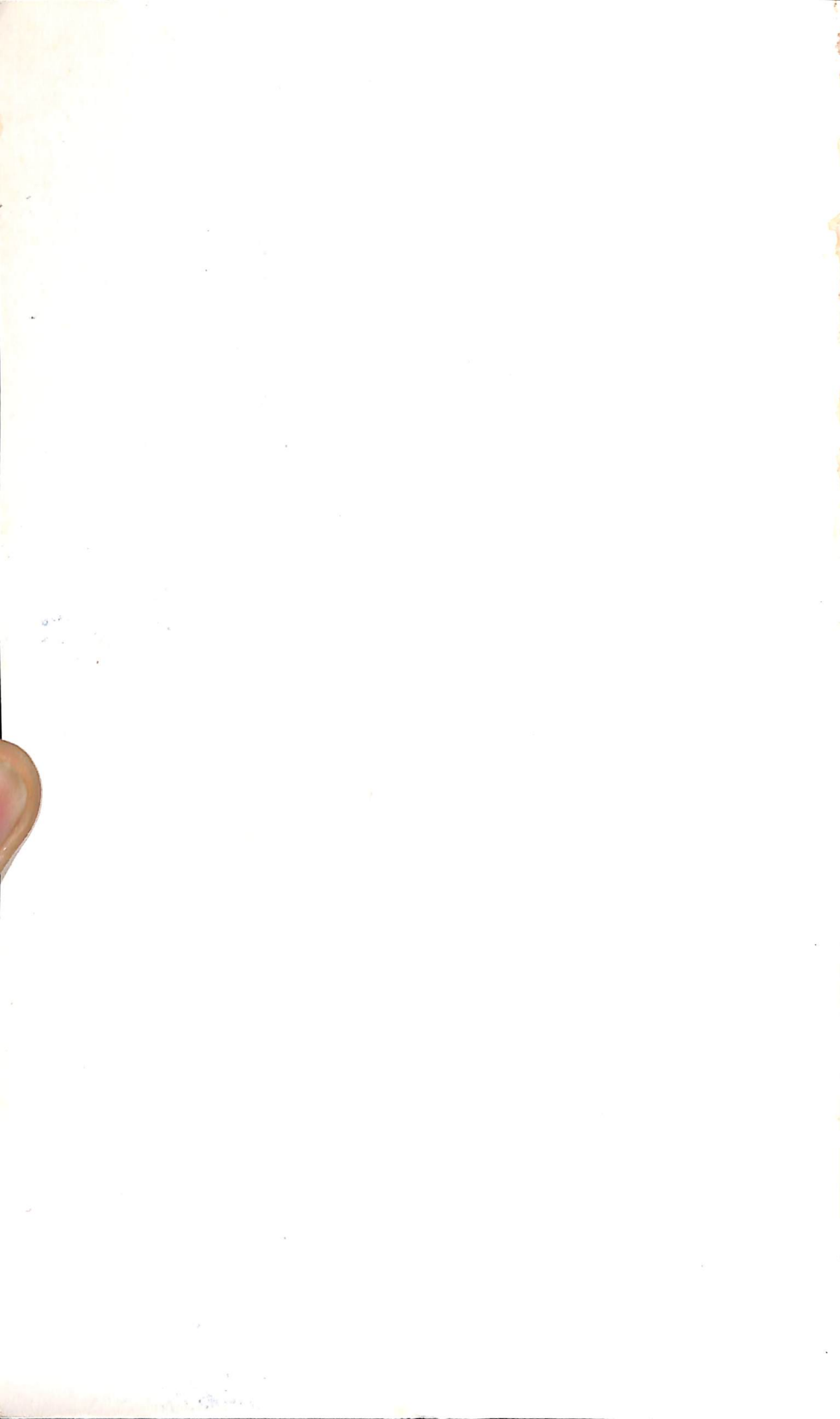
श्रीभर्तृहरिविरचितम्

नीतिशतकम्

(विस्तृत भूमिका, अन्वय, हिन्दी अनुवाद, 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या,
व्याकरणात्मक एवं आलोचनात्मक टिप्पणी सहित)

व्याख्याकार

डॉ० राकेश शास्त्री

बी० ए० (आनर्स), एम. ए. (संस्कृत)) डी.फिल्.
साहित्य-पुराणेतिहासाचार्य (लब्धस्वर्णपदक द्वय)
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बांसवाड़ा (राजस्थान)

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली - ११०००७

समर्पण

हिन्दी जगत् की

प्रसिद्ध उपन्यासकार एवं कहानीकार,

स्नेह ममता एवं वात्सल्य की प्रतिपूर्ति,

प्रातःस्मरणीया, पूजनीया अम्मा जी,

डॉ० शशि प्रभा शास्त्री

के कर-कमलों में

सादर सर्मपित

पुस्तक परिचय

संस्कृत में खण्डकाव्य के अन्तर्गत स्तोत्र एवं नीति-विषयक काव्य प्राय: मुक्तक काव्य के रूप में उपलब्ध होते हैं। महाकवि भर्तृहरि द्वारा विरचित शृंगारशतक, नीतिशतक तथा वैराग्य शतक, मुक्तक काव्य के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। इस शतक के सौ से अधिक श्लोकों में कवि ने विद्या, परोपकार, वीरता, परिश्रम, साहस और उदारता आदि उदात्त मनोभावों का सरल भाषा में मनोहारी चित्रण किया है। इसमें कवि के ऐश्वर्य सम्पन्न राजाओं की निष्ठुरता, हृदयहीनता, अहंकारिता, दुर्जनों एवं मूर्खों के द्वारा सज्जनों को दिए जाने वाले कष्टों एवं अपमान का चित्रण करते हुए, उसके प्रति विद्रोहात्मक स्वर को मुखरता मिली हैं। अनेक नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए, मानवतावादी दृष्टिकोण को अत्यन्त हृदयग्राही रूप में यहाँ चित्रित किया गया है। वस्तुत: नीतिशतकम् सम्पूर्ण सूक्ति-साहित्य का अलंकार स्वरूप ग्रन्थ है, जिसमें अनेक दीप्तिमान् माणिक स्थल-स्थल पर जड़े हुए हैं।

लेखक परिचय

राजकीय महाविद्यालय, वांसवाड़ा में स्नातकोत्तर संस्कृत-विभागाध्यक्ष के पद पर कार्यरत डॉ० राकेश शास्त्री संस्कृत के लिए पूर्णतया समर्पित व्यक्तित्व हैं। आपने राजस्थान के सुदूर आदिवासी जनजाति बहुल अंचल में संस्कृत के प्रचार प्रसार के लिए अनेक कार्य करके उल्लेखनीय योगदान दिया है। यही कारण है कि आज इस क्षेत्र में युवापीढ़ी में संस्कृत के प्रति रुझान बढ़ा है।

२० मार्च १९५५ में मेरठ के निकट दोराला ग्राम में जन्मे डॉ० शास्त्री ने सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की हैं। साथ ही बी०ए० (आनर्स), १९७५ की परीक्षा में महाविद्यालय में सर्वोच्च अंक प्राप्तकर वि० वी० की मैरिट लिस्ट में छठा स्थान प्राप्त किया है। इसके अतिरिक्त पुरणितिहासाचार्य परीक्षा में सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि० वी० में सर्वोच्च अंक प्राप्त कर स्वर्ण पदक प्राप्त किया है। आपका शोधकार्य ऋग्वेद के निपातों पर है।

आपकी अबतक वेद, उपनिषद्, दर्शन, व्याकरण साहित्य एवं पुराणों पर लगभग १० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। संस्कृत को सरल करने की दिशा में आपका उल्लेखनीय योगदान है। आपकी एक व्याकरण पुस्तक ''स्नातक संस्कृत सरला' को राजस्थान संस्कृत अकादमी द्वारा मार्च, ९७ में नवोदित प्रतिभा पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है।

अध्ययन, अध्यापन, लेखन एवं शोध में आपकी गहन रुचि है। बहुत शीघ्र ही आपकी कुछ अन्य पुस्तकें प्रकाशित होने वाली हैं।

प्रकाशित-पुस्तक सूची

१. ऋग्वेद के नियात, २. मार्कण्डेय महापुराण (हिन्दी अनुवाद), ३. मधु कणिका४. स्नातक संस्कृत सरला, ५. नीतिशतकम्, ६. ऋक् सूक्त चन्द्रिका, ७. बृहदारण्य कोपनिषद् (तृतीय अध्याय), ८. सुगम संस्कृत व्याकरण, ९. सांख्यकारिका, १०. मनुस्मृति (द्वितीय अध्याय), ११. नागानन्दम्

दो शब्द

नीतिशतकम् की प्रस्तुत पुस्तक को देखकर यह उत्सुकता स्वाभाविक है कि इतनी व्याख्याएँ होने पर एक और व्याख्या क्यों? इस विषय में मेरा विनम्र निवेदन है कि हमारे विद्यार्थियों की एक जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से रहती है कि किसी श्लोक की हिन्दी व्याख्या किस प्रकार की जाए, क्योंकि उपलब्ध नीतिशतकम् की व्याख्याओं से उनकी इस जिज्ञासा की निवृत्ति नहीं होती। इसी बात को ध्यान में रखते हुए यह व्याख्या लिखने का विनम्र प्रयास किया गया हैं।

यह व्याख्या मेरे पिछले लगभग १५ वर्षों के अध्यापन अनुभव का परिणाम है। इस विषय में मेरा प्रयत्न रहा है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए साक्षात् अध्यापक के समान मार्गदर्शन करे, क्योंकि इसमें अत्यन्त सरल बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया है। कठिन और संस्कृतनिष्ठ शब्दों से प्रायः बचने का ही प्रयास रहा है।

मूल श्लोकों के बाद अन्वय, शब्दानुसार हिन्दी अनुवाद देने के बाद विस्तृत हिन्दी व्याख्या दी गई है। व्याख्या में श्लोक में निहित गूढ़तम भावों को भी स्पष्ट करने का प्रयास रहा है। तत्पश्चात् व्याख्यात्मक एवं व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ देते हुए श्लोक की सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत करना ही प्रमुख दृष्टिकोण रहा है।

विशेष के अन्तर्गत श्लोक में निहित गूढ़ रहस्यों, अलंकार, छन्द आदि का उल्लेख किया गया है। छन्दों का यद्यपि बार-बार प्रयोग हुआ है, तथापि छात्रों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए छन्दों का लक्षण उसी स्थल पर बार-बार दिया गया है। इसके पीछे भावना रही है कि उन छन्दों के लक्षण बार-बार पढ़ने से हमारे छात्र उन्हें हृदयंगम कर सकें।

व्याकरणात्मक टिप्पणी के अन्तर्गत शब्द निर्माण में धातु, प्रकृति, प्रत्यय, समास-विग्रह, समास का नाम आदि विस्तारपूर्वक दिए गए हैं। इस सबके पीछे एक ही उद्देश्य रहा है कि छात्रों के व्याकरण विषयक ज्ञान में वृद्धि हो। इसी शीर्षक के अन्तर्गत संधि-विच्छेद करके संधि का नाम तथा संधि-सूत्र का भी उल्लेख किया गया है, जिससे छात्रों को संधि के स्वरूप को समझ कर श्लोक के अर्थ को समझने में भी सहायता प्राप्त हो।

नीतिशतकम् की सभी उपलब्ध प्रतियों में श्लोकों का क्रम एक जैसा नहीं है। साथ ही कुछ श्लोक ऐसे भी हैं जो कुछ प्रतियों में नहीं मिलते हैं। हमने इन सभी श्लोकों का विषयवार संग्रह करके विद्यार्थियों के हित को देखते हुए सभी की व्याख्या प्रस्तुत की है

तथा श्लोकों का क्रम निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित भर्तृहरित्रिशती के आधार पर रखा है।

पुस्तक के प्रारम्भ में विस्तृत भूमिका दी गई है। जिसमें गीतिकाव्य का स्वरूप, गीतिकाव्य का उद्भव एवं विकास, संस्कृत गीतिकाव्य की विशेषताएँ आदि विषयों का तथा कवि भर्तृहरि के जीवनचरित, स्थितिकाल, कृतियाँ एवं भाषा शैली आदि का विस्तार से उल्लेख किया है, क्योंकि अधिकांश विश्वविद्यालयों में कवि एवं कृति पर प्रश्न पूछने की परम्परा रही है।

भूमिका में ही सभी दस पद्धतियों का सारांश देने का विचार था, किन्तु उससे पुस्तक के कलेवर में अत्यधिक वृद्धि हो जाती, जिससे बचने के लिए हमने परिशिष्ट में केवल एक विद्वद्पद्धति का सारांश दे दिया है। छात्रों को उसके आधार पर ही अन्य पद्धतियों के सारांश लिखने का भी अभ्यास करना चाहिए।

कुछ विश्वविद्यालयों में श्लोकों की संस्कृत व्याख्या भी परीक्षा में पूछी जाती है। हमने प्रत्येक श्लोक की संस्कृत व्याख्या न करके नमूने के रूप में एक श्लोक की व्याख्या परिशिष्ट में दी है। उसके आधार पर अन्य श्लोकों की संस्कृत व्याख्या की जा सकती है।

छात्रों में एक जिज्ञासा सदैव बनी रहती है कि अच्छे अंक प्राप्त करने के लिए श्लोक की हम किस प्रकार हिन्दी व्याख्या करें। उनकी इस जिज्ञासा के लिए हमने परिशिष्ट में एक हिन्दी व्याख्या भी उदाहरण रूप में दी है।

प्रत्येक श्लोक के कुछ कठिन शब्दों के अर्थों को भी परिशिष्ट के अन्तर्गत पुस्तक के अन्त में अकारादिक्रम में दिया गया है। साथ ही वहीं पर श्लोकानुक्रमणिका का भी उल्लेख किया गया है।

तदनन्तर में इस पुस्तक की प्रेरणास्रोत मेरी शक्ति-स्वरूपा सहधर्मिणी डॉ. प्रतिमा शास्त्री, व्याख्याता (स्कूल-शिक्षा) के प्रति भूरिशः धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। जिन्होंने मुझे बार-बार स्मरण कराते हुए इस कार्य को शीघ्र पूर्ण करने के लिए निरन्तर प्रेरित किया एवं अनेक दायित्वों को अपने ऊपर लेकर सहयोग प्रदान किया। कु० प्राची शास्त्री ने तो पाण्डुलिपि तैयार करने में भी अनेकशः सहायता की है। एतदर्थ उसे कोटिशः आशीर्वाद। नन्हें आत्मज आयुष्मान् सुवासित शास्त्री को भी असीम शुभकामनाएँ और हार्दिक प्यार इस कामना के साथ कि उसका भी निरन्तर संस्कृत के अध्ययन के प्रति रुझान हो।

अन्त में मैं संक्षेप में केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि हमारी आने वाली संस्कृत अध्येता छात्रों की पीढ़ी का व्याकरण विषयक ज्ञान अत्यल्प है। वह इसे अत्यन्त क्लिष्ट

समझती है। प्रस्तुत पुस्तक उसकी इस भावना को दूर करने का एक तुच्छ प्रयास मात्र है। जो अत्यन्त विनम्र भाव से अर्पित है।

इस पुस्तक के लेखन में मुझे अभी तक प्रकाशित सभी नीतिशतकम् की व्याख्याओं से सहायता प्राप्त हुई, एतदर्थ मैं उन सभी के विद्वान् व्याख्याकारों का हृदय से आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ। इति शम्

१४ मार्च, १९९६ -

शास्त्री निलयम्, १ एच ३१,

हाउसिंग बोर्ड कालोनी,

बांसवाड़ा - ३२७००१

दूरभाष - ०२९६२/४१०२६

विदुषां वशंवद

राकेश शास्त्री

विषय-सूची

भूमिका

संस्कृत भारत की ही नहीं, अपितु विश्व की सर्वाधिक प्राचीन भाषा है। सम्पूर्ण विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद भी इसी भाषा में निबद्ध है। भारत के प्राचीन वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए हमारे समक्ष संस्कृत भाषा के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।

संस्कृत में निबद्ध साहित्य भी इतना समृद्ध है कि उसकी उपमा अथवा साम्य विश्व के किसी भी अन्य साहित्य के साथ करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है।

इस सम्पूर्ण साहित्य को हम प्रथमत: दो भागों में विभाजित कर सकते है। १. वैदिक संस्कृत साहित्य २. लौकिक संस्कृत साहित्य। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत संहिता ग्रन्थों से लेकर ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग एवं सूत्र ग्रन्थों तक समस्त साहित्य आ जाता है।

वैदिक संस्कृत के समानान्तर ही एक लौकिक संस्कृत की धारा भी अविरत गति से प्रवाहमान होती दिखाई देती है। जिसके दर्शन हमें पुराणों में होते हैं। सम्भवत: इसी कारण विद्वानों ने "पुराणं पञ्चमो वेद:" कहकर उसे वेद के निकट माना। यह संस्कृत अत्यन्त सरल एवं जनसामान्य की रही।

किन्तु बाद में रामायण काल से इसी भाषा में काव्यों की रचना की गई। जहाँ से लौकिक संस्कृत के व्यवस्थित रूप से दर्शन होते हैं। इसी कारण रामायण को आदिकाव्य और महाकवि वाल्मीकि को आदिकवि कहा जाता है।

उपलब्ध समस्त लौकिक संस्कृत साहित्य को शैली की दृष्टि से प्रथमत: दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य। दृश्य काव्य के अन्तर्गत रूपक उपरूपक आदि आते हैं तथा श्रव्य काव्य को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं— गद्य, पद्य और चम्पूकाव्य।

इनमें भी पद्य काव्य के पुन: दो भेद महाकाव्य और खण्डकाव्य तथा गद्य काव्य के कथा और आख्यायिका किए जा सकते हैं। पद्यकाव्य के भेद खण्डकाव्य को विषय की दृष्टि से स्तोत्र, नीति और शृंगारि काव्य के रूप में तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। इस सम्पूर्ण विभाजन को इस प्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं—
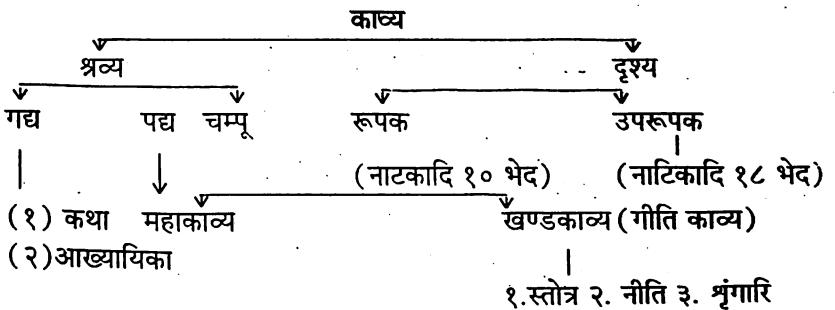
इनमें स्तोत्र एवं नीति-विषयक काव्य प्रायः मुक्तक कांव्य के रूप में उपलब्ध होते हैं। यहाँ मुक्तकों से अभिप्राय उन स्वतन्त्र छन्दोबद्ध रचनाओं से है जिनमें पूर्वापर प्रसङ्ग की अपेक्षा नहीं होती, अपितु इनका प्रत्येक पद्य स्वतन्त्र रूप से अपने अभिप्राय को अभिव्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ तथा स्वतः पूर्ण रसास्वादन कराने में सक्षम होता है।

महाकवि भर्तृहरि द्वारा विरचित शृंगार शतक, नीतिशतक तथा वैराग्य शतक, मुक्तक काव्य के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। यहाँ हमारा विवेच्य इस शतकत्रय में से नीतिशतकम् है जो लौकिक संस्कृत साहित्य की श्रव्य-काव्य परम्परा में पद्यकाव्य की खण्डकाव्य अथवा गीतिकाव्य कोटि के अन्तर्गत नीतिपरक मुक्तक काव्य के रूप में परिगणित है।

अतः इस ग्रन्थ के विवेचन से पूर्व गीतिकाव्य के विषय में विस्तार से ज्ञान प्राप्त करना उचित होगा।

(क) गीतिकाव्य का स्वरूप- काव्य का वह स्वरूप जिसमें पद्यबद्ध रचनाएँ होने के साथ-साथ पूर्वा-पर प्रसङ्ग की आवश्यकता नहीं होती अर्थात् प्रत्येक पद्य भावाभिव्यक्ति में पूर्णतया स्वतन्त्र होता है, शास्त्रीय दृष्टि से खण्डकाव्य का ही दूसरा नाम गीतिकाव्य है, जिसमें काव्यतत्त्व के साथ-साथ संगीतात्मकता की प्रमुखता और भावों की प्रधानता होती है।

प्राचीन ग्रन्थों में गीतिकाव्य के स्वरूप पर विचार किया गया है—

१. मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कार क्षमः सत्ताम्। (अग्निपुराण ३३७-३६)

२. खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च। (साहित्यदर्पण. ६.३३९)

३. पूर्वापरनिरपेक्षेणापि येन रसचर्वणा क्रियते तदेवमुक्तम्। (ध्वन्यालोक)

उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए ही डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने गीतिकाव्य को परिभाषित करने का सुन्दर प्रयास किया है— ''गीतिकाव्य भाव-प्रधान होते हैं। इनमें अन्तरात्मा की ध्वनि होती है। जीवन का कोई एक पक्ष वर्णित होता है। महाकाव्य यदि जीवन की समग्रता है तो गीतिकाव्य एक देशीयता। महाकाव्य में विस्तार है तो गीतिकाव्य में घनत्व। महाकाव्य में शिथिलता है तो गीतिकाव्य में एकाग्रता और तन्मयता है।''

(ख) गीतिकाव्य का उद्भव और विकास- जिस प्रकार सभी प्रकार की साहित्यिक विधाओं का उद्गमस्थल वेद को माना गया है। ठीक उसी प्रकार गीतिकाव्य के बीज भी हमें ऋग्वेद में सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। वहाँ विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियों में मुक्तक स्तोत्रसाहित्य के मूलतत्त्व हमें उपलब्ध होते हैं। इन स्तुतियों में भी हमें भावुकता परिलक्षित होती है।

इसके पश्चात् विकासक्रम की दृष्टि से गीतिकाव्य के लक्षण हमें आदिकाव्य रामायण, पुराण, महाभारत आदि में अनेक स्थलों पर विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियों

में प्राप्त होते हैं। हाँ इतना अवश्य है कि यहाँ तक के साहित्य में प्राय: स्तोत्र गीतिकाव्य के ही दर्शन होते हैं। जिसे हम धार्मिक गीतिकाव्य भी कह सकते हैं। परवर्ती पौराणिक साहित्य में इसका विकसित रूप देखने को मिलता है।

किन्तु लौकिक संस्कृत साहित्य में गीतिकाव्य का वर्तमान स्वरूप हमें विधिवत् रूप से महाकवि कालिदास के मेघदूत तथा ऋतुसंहार में परिलक्षित होता है। इसके बाद इस परम्परा का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ घटकर्पर का २२ पद्यों में निबद्ध घटकर्पर काव्य है। जिसमें वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में एक विरहिणी पत्नी दूर स्थित अपने पति के पास अपना संदेश प्रेषित करती है।

पुन: इसी प्रणयसंदेश परम्परा में कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का गीतिकाव्य साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जिनमें कृष्णमूर्ति का यज्ञोल्लास, श्रीराम शास्त्री का मेघ प्रति संदेश, महाकवि विक्रम का नेमिदूत, वेदान्त दैशिक का हंस-संदेश, रुद्रवाचस्पति का भ्रमरदूत, वेंकटाचार्य का कोकिल-संदेश एवं कृष्णचन्द्र पन्त का चन्द्रदूत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इसी परम्परा को पोषित करने वाले ग्रन्थों में महाकवि जयदेव विरचित गीतगोविन्द विशेषतया उल्लेखनीय है। महाकवि हाल (सन् १२५ ई.) की गाथा सप्तशती, महाकवि भर्तृहरि (छठीं शताबदी का उत्तरार्द्ध) का नीतिशतक, शृंगारशतक तथा वैराग्यशतक, महाकवि अमरुक (लगभग ७०० ई.) का अमरुकशतक, महाकवि विल्हण की चौरपंचाशिका आदि इसी परम्परा के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

महाकवि हाल के अनुकरण पर ही गोवर्धनाचार्य ने आर्यासप्तशती की रचना की। गीतिकाव्यों की परम्परा में पण्डित जगन्नाथ का योगदान अविस्मरणीय रहेगा। उन्होंने पीयूष-लहरी, सुधा-लहरी, करुणा-लहरी, यमुना वर्णन, भामिनी-विलास आदि ग्रन्थों का प्रणयन करके स्तोत्र गीतिकाव्य में श्री वृद्धि की।

इसके अतिरिक्त इस परम्परा के कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थ इस प्रकार हैं— शारङ्गधर-पद्धति, उद्भट-सागर, शंकराचार्य का चतु:शतक, पुष्पदन्त का महिम्नस्तोत्र, आनन्दवर्धनाचार्य का देवीशतक, यामुनाचार्य का चतु:श्लोकी स्तोत्ररत्न तथा महाकवि जयदेव का गंगास्तव, कवीन्द्रससमुच्चय, सदुक्तिकर्णामृत, सूक्तिमुक्तावली, सुभाषितावली, पद्यावली, पद्यरचना, काव्यसंग्रह तथा सुभाषितरत्नभाण्डागारम् इत्यादि।

(ग) संस्कृत गीतिकाव्य की विशेषताएँ– उपलब्ध गीतिकाव्य साहित्य के आधार पर हम कुछ विशेषताओं का यहाँ उल्लेख कर रहे हैं, जिनके कारण इन्हें सहृदय समाज में लोकप्रियता प्राप्त हुई—

१. शृंगारिकता– गीतिकाव्यों में कुछ काव्य शृंगार प्रधान हैं, किन्तु उनकी विशेषता यह है कि वहाँ प्रेम का उदात्त स्वरूप चित्रित हुआ है तथा उसके बाह्य सौन्दर्य की

अपेक्षा अन्तः सौन्दर्य को प्रधानता दी गई है। शृंगार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग का प्रभावी चित्रण इन काव्यों में देखने को मिलता है। भर्तृहरि का शृंगार शतक इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

२. कोमल भावों की प्रधानता– इनमें मानव के अत्यन्त कोमल भावों का उदात्त चित्रण देखने को मिलता है। इन काव्यों में भयानक, वीभत्स आदि रसों का प्रायः अभाव ही हैं। यही कारण है कि इनमें शृंगार , शान्त अथवा वीर रस को प्रधानता मिली है।

३. संगीतात्मकता– सभी प्रकार के गीतिकाव्यों में यह विशेषता हमें प्रमुखतया देखने को मिलती है। यहाँ सभी गेयात्मक छन्दों का चयन किया गया है, यही कारण है कि इन काव्यों में हृदय को छूने वाली वीणा की झंकार-सी स्वर की मधुरिमा का सहज ही अनुभव किया जा सकता है।

४. भावपक्ष की प्रमुखता– गीतिकाव्यों में भाव, कल्पना, संवेदनशीलता एवं अनुभूति आदि काव्य के भावपक्ष विषयक तत्त्वों को ही प्रमुखता मिली है। कलापक्ष यहाँ प्रायः सभी कवियों की दृष्टि में गौण ही रहा है। विशेषतया धार्मिक दृष्टि से लिखे गए गीतिकाव्यों में संवेदनात्मक भावों की प्रबलता का मार्मिक स्वरूप सहज ही प्रवाह रूप में देखा जा सकता है।

५. प्रसाद एवं माधुर्य गुण की प्रधानता– इन काव्यों में ओजगुण का प्रायः अभाव ही रहा है, क्योंकि भाषा का अत्यन्त सरल रूप, कोमलकान्त पदावली के साथ सहजता और सरसता में अभिवृद्धि करता हुआ, यहाँ सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

६. जीवन के सभी पक्षों का चित्रण– संस्कृत गीतिकाव्यों में जीवन के सभी पक्षों प्रेम, भक्ति, सुख, दुःख, वैराग्य आदि सभी का स्पर्श किया गया है। वास्तविकता तो यह है कि मानव के जीवनदर्शन को जो मुखरता आकर्षक रूप में इन काव्यों में प्राप्त हुई है, वह अन्यत्र काव्य की किसी विधा में नहीं।

७. कल्पना की स्वच्छन्दता– इन काव्यों में विषय-विशेष की सीमाओं से परे कवि हृदय को कल्पनाओं के सागर में स्वच्छन्द रूप से गोते लगाने का अधिक आनन्द प्राप्त होता है। यही कारण है कि यहाँ अनुभूति की मार्मिकता, निरीक्षण की सूक्ष्मता, भाषा की सरसता और सरलता, अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग, विचारों की नवीनता एवं छन्दों की व्यवस्था को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है।

इसके अतिरिक्त गीतिकाव्य में धार्मिकभावना, नैतिक-शिक्षा, अनुभव की गम्भीरता, नखशिख वर्णन एवं प्रकृति का मनोहारी बाह्य एवं आन्तरिक चित्रण भी देखने को मिलता हैं। जिनका यहाँ विस्तार की दृष्टि से विवेचन नहीं किया जा रहा है।

इसके पश्चात् अब हम गीतिकाव्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण नीतिशतकम् के रचयिता महाकवि भर्तृहरि के विषय में विचार करेंगे—

(घ) भर्तृहरि का जीवन-चरित- महाकवि भर्तृहरि के जीवनचरित के विषय में कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु जनश्रुति के आधार पर कुछ कथाएँ प्रचलित हैं, जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

महाराजा गंधर्वसेन की दो पत्नियाँ थीं, जिनमें से एक के पुत्र महाकवि भर्तृहरि थे और दूसरी पत्नी के पुत्र का नाम विक्रम था। विक्रम की माता मालवा के राजा की पुत्री थी। उस समय मालवा की राजधानी धारा थी। विक्रम और भर्तृहरि की शिक्षा-दीक्षा उनके नाना धाराधिपति की देखरेख में ही सम्पन्न हुई। शिक्षा पूर्ण होने पर उन्होंने अपने नाती विक्रम को अपना राज्य देने की इच्छा प्रकट की, क्योंकि उन्हें कोई पुत्र नहीं था।

किन्तु विक्रम ने अपने बड़े भाई के रहते राज्य को स्वीकार करने से मना कर दिया। अन्त में विक्रम की इच्छानुसार भर्तृहरि राजा बने और विक्रम प्रधानमन्त्री बन कर राज्य की देखभाल करने लगे। इसी बीच उन्होंने मालवा की राजधानी धारा से हटाकर उज्जैन को बना दिया।

इधर राजा भर्तृहरि भोग-विलास में डूब गए, उन्होंने राज्य की पूरी तरह उपेक्षा कर दी। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी काल में उन्होंने शृंगार शतक की रचना की। विक्रम ने अपने बड़े भाई को बहुत समझाया, किन्तु परिणाम उल्टा ही हुआ और विक्रम एक षड्यन्त्र के शिकार होने के कारण राज्य से बाहर निकाल दिये गए। कहते हैं इसके पश्चात् विक्रम ने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया, बाद में वे पूर्वी बंगाल में ढाका के निकट जाकर बस गए जो स्थान आज भी विक्रमपुर के नाम से प्रसिद्ध है।

इस बीच भर्तृहरि के साथ एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। एक दिन अकस्मात् एक साधु राजा भर्तृहरि के पास आया और एक फल देकर कहा कि इसे खाने से अक्षययौवन की प्राप्ति होगी। राजा अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम करते थे। अतः उन्होंने वह फल अपनी पत्नी को दे दिया, किन्तु उनकी पत्नी किसी अन्य पुरुष से प्रेम करती थी। अतः उसने वह फल अपने प्रेमी को दे दिया। उसका प्रेमी, रानी से प्रेम न करके किसी वेश्या को अत्यधिक चाहता था। इसलिए उसने वह फल वेश्या को दे दिया। वह वेश्या भर्तृहरि के प्रति अत्यधिक श्रद्धा करती थी। अतः उसने वह फल राजा को लाकर दे दिया।

राजा उस फल को देखकर चौंक उठा। उसने इस विषय में गहन पूछताछ की तो उसे सभी प्रेम सम्बन्धों का पता चल गया। जब रानी को इस सबका पता लगा तो उसने महल से कूदकर आत्महत्या कर ली। राजा को इस सम्पूर्ण घटना से अत्यन्त दुःख हुआ। इस सम्पूर्ण घटनाक्रम पर उन्होंने प्रस्तुत श्लोक की संरचना की–

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च।।

कहते हैं कि भर्तृहरि ने इस घटना को शीघ्र ही भुला दिया और फिर से दूसरी पत्नी पिङ्गला से पहले के समान ही प्रेम करने लगे।

एक बार भर्तृहरि शिकार के लिए जंगल गये। वहाँ उन्होंने देखा कि एक शिकारी ने एक हिरण का शिकार किया, किन्तु उसी समय शिकारी को एक सांप ने काट लिया और वह वही मर गया। तभी उस हिरण की पत्नी वहाँ आई और अपने पति के शरीर पर मृत होकर गिर पड़ी। उधर शिकारी की पत्नी को जब शिकारी की मृत्यु का पता लगा तो उसने भी अपने पति के साथ चिता में अपने प्राण त्याग दिये।

भर्तृहरि इस सब घटनाक्रम को देखकर अत्यन्त विस्मित हुए उन्होंने घर आकर सम्पूर्ण वृत्तान्त अपनी प्रियतमा पिङ्गला[१] को सुनाया। उसने बिना किसी आश्चर्य की अभिव्यक्ति करते हुए कहा कि सती तो बिना अग्नि को जलाए भी स्वयं को भस्म कर सकती है। यह सुनकर राजा चुप रहे, किन्तु उन्होंने अपनी पत्नी की परीक्षा लेने का मन ही मन निश्चय कर लिया।

एक बार वे शिकार के लिए वन में गए और वहाँ से खून में लथपथ अपने कपड़े एक सेवक के द्वारा भिजवाकर यह संदेश दिया कि 'राजा तो व्याघ्र द्वारा मारे गए' रानी यह सुनकर खून से सने कपड़े लेकर, उन्हें पृथ्वी पर रखकर, प्रणाम करके वहीं समाप्त हो गई।

उधर राजा ने जब यह सब समाचार सुना तो उन्हें बहुत गहरा धक्का लगा और उन्हें वैराग्य हो गया। उन्होंने राजकाज का परित्याग कर दिया और वन में जाकर एक तपस्वी का जीवन व्यतीत करने लगे। वहीं पर उन्होंने महान् योगी गोरखनाथ से योग की दीक्षा भी ग्रहण की और अमरत्व प्राप्त किया।

उपर्युक्त कथा के कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होते, न ही उनके ग्रन्थों से इस प्रकार की घटना का कोई संकेत प्राप्त होता है। एक मात्र श्लोक **''यां चिन्तयामि''** इत्यादि से ही इस ओर थोड़ा संकेत प्राप्त होता है, किन्तु कुछ विद्वान् इस श्लोक को ही प्रक्षिप्त मानकर इसकी प्रामाणिकता में संदेह व्यक्त करते हैं। वस्तुतः महाकवि भर्तृहरि का जीवनचरित भी कालिदास आदि अन्य प्रसिद्ध कवियों के समान ही पूर्णतया अनुमान पर ही आधारित है। उस पर भी जटिलता उस समय और अधिक बढ़ जाती है, जब भर्तृहरि नाम के अन्य व्यक्ति भी इतिहास में उपलब्ध होते हैं। इतना ही नहीं जिन विक्रम नाम के व्यक्ति को इनका बड़ा भाई बताया गया, वह विक्रमादित्य ही थे या कोई और, इस विषय में भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विक्रम नाम के व्यक्ति भी इतिहास में अनेक हुए हैं। इसलिए यह गुत्थी बहुत अधिक उलझ जाती है। कहते हैं इनके वनप्रवास में इनकी बहन के पुत्र गोपीचन्द इनके साथ थे।

---

१. रानी के नाम के सम्बन्ध में विद्वानों में मतवैमत्य मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह नाम पद्माक्षी तो अन्यों के अनुसार यह नाम भानुमती या अनङ्ग सेना था।

किन्तु उपर्युक्त कथा के आधार पर तथा भर्तृहरि के द्वारा विरचित शतकत्रय के आधार पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि महाकवि भर्तृहरि का सम्बन्ध राजकीय जीवन से था तथा वे अत्यन्त नीति-निपुण थे। अपने युवाकाल में उन्होंने शृंगारशतक, प्रौढावस्था में नीतिशतक तथा वनवास काल में वैराग्यशतक की रचना की।

(ङ) भर्तृहरि का स्थिति काल– महाकवि भर्तृहरि जिन्होंने शतकत्रय की रचना की, वे किस काल में हुए, इस विषय में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है। इसके प्रमुख कारण है—

१. कालिदास आदि के समान उन्होंने भी अपनी रचनाओं में कहीं भी इस ओर संकेत नहीं किया है।

२. भर्तृहरि नाम से इतिहास में कुछ अन्य व्यक्ति भी हुए तथा उन्होंने भी संस्कृत ग्रन्थों की रचना की।

३. जनश्रुति के आधार पर इन्हें विक्रमादित्य के साथ जोड़ा जाता है, किन्तु ये कौन से विक्रमादित्य थे, यह भी अस्पष्ट है।

इसलिए विद्वानों ने अपने-अपने विवेक के अनुसार महाकवि भर्तृहरि के काल का निर्धारण करने का प्रयास किया है, किन्तु फिर भी विद्वानों में इस विषय में मतैक्य नहीं हो सका है। हम यहाँ इस विषय में संक्षेप में विचार कर रहे हैं—

१. एक मत के अनुसार– भर्तृहरि विक्रम संवत् का प्रारम्भ करने वाले सम्राट् विक्रमादित्य के भाई थे। अतः इनका समय ईसा पू. ५७ के लगभग मानना चाहिए।

२. कुछ विद्वानों के अनुसार– ये विक्रमादित्य (६४४ ई. में) हूणों को हराने वाले थे। महाकवि भर्तृहरि इन्हीं के भाई थे। ई. पू. ५७ ई. वाले सम्राट् विक्रमादित्य के नहीं।

३. चीनी बौद्धंयात्री इत्सिंग ने लिखा है कि लगभग ६५१ ई. में भर्तृहरि नामक वैयाकरण का देहान्त हुआ था। ये ही प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' के रचयिता माने जाते हैं।

४. सम्भवतः इसी आधार पर डॉ. कीथ[१] ने भी वाक्यपदीयकार भर्तृहरि को ही शतकत्रय का भी रचयिता स्वीकार करते हुए उनका समय ६५० ई. के आसपास निर्धारित किया है।

५. डॉ. सूर्यकान्त[२] ने भी भर्तृहरि को वाक्यपदीय की रचना करने वाला स्वीकार करते हुए उनकी मृत्यु ६५१ ई. में स्वीकार की है।

६. ईसा की सप्तमशती के अन्त में स्थित अमरुक कवि द्वारा विरचित अमरुक शतक पर महाकवि भर्तृहरि के पद्यों का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। अतः इस

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास— डॉ. कीथ पृ. २१५

२. संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास— डॉ. सूर्यकान्त १९७२ पृ. २४७

आधार पर इन्हें अमरुक कवि से कुछ पूर्व अर्थात् छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध अथवा संप्तम शती के पूर्वार्द्ध में मानना उचित प्रतीत होता है।

अब हम उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर विचार कर रहे हैं—

१. प्रथम तो हमें विचार करना होगा कि भर्तृहरि और विक्रमादित्य को परस्पर जोड़ना कितना उचित है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर इतना तो स्पष्ट ही है कि उनका विक्रमादित्य के साथ सम्बन्ध अधिकांश विद्वानों द्वारा तथा जनश्रुतियों में स्वीकार किया गया है।

सिंहासनद्वात्रिंशिका तथा विक्रमांकदेव चरितम् में भर्तृहरि का विशेष उल्लेख करते हुए उन्हें राजा विक्रमादित्य का बड़ा भाई बताया गया है।

हाँ इस विषय में कुछ विद्वान् इन्हें सम्राट् विक्रमादित्य का बड़ा भाई स्वीकार नहीं करते, किन्तु उनके मत में— 'विक्रमादित्य से इन्हें बड़े भाई के समान सम्मान प्राप्त था।'

अतः इतना तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भर्तृहरि और विक्रमादित्य का कोई सम्बन्ध अवश्य था। ई. पू. ५७ में स्थित विक्रमादित्य को भर्तृहरि से जोड़ना इसलिए उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उस स्थिति से बाकी किसी भी बात का तालमेल नहीं बैठ पाता है। अतः इन्हें ईसा की सप्तम शती में स्थित विक्रमादित्य मानना ही उचित प्रतीत होता है।

हाँ, इस विषय में इतना अवश्य निश्चय से कहा जा सकता है कि चीनी यात्री इत्सिंग द्वारा उल्लिखित वैयाकरण भर्तृहरि तथा शतकत्रय के रचयिता भर्तृहरि दोनों को एक मानना किसी भी दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता। इसके पक्ष में कुछ तर्क प्रस्तुत हैं—

१. चीनीयात्री इत्सिंग ने भर्तृहरि को बौद्ध मतावलम्बी माना है, किन्तु शतकत्रय का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर कोई एक भी प्रमाण उनके बौद्ध धर्मावलम्बी होने का प्राप्त नहीं होता, अपितु उनके आधार पर उन्हें वैदिक धर्मावलम्बी शिवभक्त अथवा वैष्णव अवश्य कहा जा सकता है।

२. उनकी रचनाओं में जो भाषा की सरलता दृष्टिगोचर होती है वह किसी वाक्यपदीयकार जैसे उच्चकोटि के वैयाकरण से अपेक्षित प्रतीत नहीं होती, क्योंकि वह अपने व्याकरण विषयक ज्ञान के प्रदर्शन के लोभ संवरण को रोकने में कैसे समर्थ हो सकता था, जाने अन्जाने में उसका प्रदर्शन स्वाभाविक भी था, किन्तु शतकत्रय में कहीं भी ऐसा नहीं हुआ है।

३. इत्सिंग के कथन में भी असत्यता नहीं है। यदि हम वाक्यपदीयकार भर्तृहरि को शतकत्रय के रचयिता भर्तृहरि से भिन्न मान लेते हैं तो, यह गुत्थी स्वतः ही सलझ जाती है।

४. प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् प्रोफेसर के. ए.सुब्रह्मण्य अय्यर[१] ने वाक्यपदीयकार भर्तृहरि को शतकत्रय के भर्तृहरि से भिन्न ही स्वीकार किया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि भर्तृहरि सम्राट् विक्रमादित्य (६४४ ई.) के समकालिक एवं उनके अत्यन्त निकट थे। ये शैव वेदान्ती थे। बौद्ध धर्मावलम्बी भर्तृहरि इनसे भिन्न और वाक्यपदीय ग्रन्थ के रचयिता हैं। इन्होंने जीवन में ऐश्वर्यों का अत्यधिक भोग किया तथा जीवन के अन्तिम क्षणों में इन्हें वैराग्य हुआ। इनका समय सप्तम शती का पूर्वार्द्ध मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।

(च) भर्तृहरि की कृतियाँ– यों तो भर्तृहरि के नाम से अनेक ग्रन्थ[१] मिलते हैं, किन्तु हमारे विवेच्य महाकवि भर्तृहरि के मुक्तक पद्यों के तीन संकलन ही उपलब्ध होते हैं– शृंगारशतक, नीतिशतक और वैराग्यशतक। भारतीय परम्परा के अनुसार ये तीनों शतक एक ही कवि द्वारा प्रणीत हैं। अब हम यहाँ इनका संक्षेप में परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

१. शृंगारशतकम्– इसमें कवि ने सुमधुर शैली में रमणियों के मनमोहक सौन्दर्य के आकर्षण को चित्रित किया है। इसके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने स्त्रियों की शृंगारिक चेष्टाओं एवं हावभावों का सूक्ष्म अध्ययन किया था।

साथ ही इस रचना के अन्त में उन्होंने सुन्दरता एवं प्रेम को सर्वोच्च न मानकर उसकी निस्सारता और प्रेम की दुःखद परिणति का भी चित्रण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस रचना का प्रारम्भ उन्होंने अपनी युवावस्था में किया और समाप्ति प्रौढावस्था में। यही कारण है कि यहाँ कवि आकर्षण से विकर्षण की ओर, अतिप्रणय से अप्रणय की ओर बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः इस शतक में सांसारिक भोग और वैराग्य इन दोनों विकल्पों के मध्य अनिश्चय की मनःस्थिति का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है, जो धीरे-धीरे वैराग्य के प्रति निश्चयात्मक स्वरूप में बदल गई है।

२. नीतिशतकम्– इस शतक के सौ से अधिक श्लोकों में कवि ने विद्या, परोपकार, वीरता, परिश्रम, साहस और उदारता आदि उदात्त मनोभावों का सरल भाषा में मनोहारी चित्रण किया है। इसमें कवि के ऐश्वर्यसम्पन्न राजाओं की निष्ठुरता, हृदयहीनता, अहंकारिता, दुर्जनों एवं मूर्खों के द्वारा सज्जनों को दिए जाने वाले कष्टों एवं अपमान का चित्रण करते हुए, उसके प्रति विद्रोहात्मक स्वर को मुखरता मिली है। अनेक नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए, मानवतावादी दृष्टिकोण को अत्यन्त हृदयग्राही रूप में यहाँ चित्रित किया गया है। वस्तुतः नीतिशतकम् सम्पूर्ण सूक्ति-साहित्य का अलंकार स्वरूप ग्रन्थ है, जिसमें अनेक दीप्तिमान् माणिक स्थल-स्थल पर जड़े हुए हैं।

---

१. भर्तृहरि का वाक्यपदीय – अय्यर – राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी – १९८१

१. वाक्यपदीय, वाक्यपदीय टीका, महाभाष्यदीपिका, मीमांसाभाष्य, वेदान्तसूत्रवृत्ति, शब्दधातु समीक्षा, शृंगार, नीति और वैराग्यशतक।

३. वैराग्यशतकम्– इस संरचना में कवि की सांसारिक भोगों एवं आकर्षणों के प्रति उदासीनता की भावना को सुन्दर अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। इसमें कवि ने संसार की निस्सारता, विषमता, भोगतृष्णा की विभीषिका तथा यौवन की अस्थिरता का मार्मिक चित्रण करते हुए अपने सहृदय पाठक को वैराग्य की ओर उन्मुख करने का सफल प्रयास किया है। वस्तुतः तीनों शतकग्रन्थ संस्कृत गीतिकाव्य साहित्य की अग्रणी एवं उत्कृष्ट रचनाएँ कही जा सकती हैं।

(छ) भर्तृहरि की भाषा-शैली– महाकवि भर्तृहरि के ग्रन्थों में सर्वत्र भाषा का अत्यन्त सरल स्वरूप देखने को मिलता है। उन्होंने भाषा में सर्वत्र शब्दों का उचित प्रयोग किया है। यहाँ हमें भाषा में स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं। उन्होंने प्रसाद एवं माधुर्य गुणों का सर्वाधिक प्रयोग किया है। वाक्ययोजना इतनी सरल प्रयुक्त हुई है कि पढ़ते ही अर्थ हृदयंगम हो जाता है। इनका प्रत्येक पद्य स्वयं में पूर्ण है।

महाकवि ने जीवन के सभी पक्षों को अत्यन्त निकट से देखा और अनुभव किया है, इसलिए उनका वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक एवं हृदयग्राही बन पड़ा है। उन्होंने सर्वत्र भावों के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग किया है। वस्तुतः संस्कृत-कविता का सुन्दरतम स्वरूप हमें महाकवि की कविता में सर्वत्र देखने को मिलता है। यद्यपि उन्होंने सर्वत्र वैदर्भी रीति का प्रयोग किया है, किन्तु कुछ स्थलों पर गौड़ी रीति के दर्शन भी हमें सहज ही होते हैं–

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि कष्टां दशामापन्नोऽपि,
शिथिलप्रायोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि।
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भकवलग्रासैकबद्धस्पृहः,
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी।।२७।।

उनकी भाषा में सर्वत्र अलंकारों का अत्यन्त स्वाभाविक प्रयोग हुआ है, कहीं भी उन्होंने अलंकारों से भाषा को सजाने का सायास प्रयास नहीं किया है। उनके शतकत्रय में हमें अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दीपक, दृष्टान्त, समुच्चय, परिसंख्या, अर्थापत्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग देखने को मिलता है। अर्थान्तरन्यास एवं पर्यायोक्ति अलंकारों का उन्होंने सर्वाधिक प्रयोग किया है।

व्यंग्यार्थ उनकी सबसे बड़ी विशेषता है जिसके द्वारा वे अपने पाठक को सहज ही कोई न कोई उपदेश प्रदान कर देते हैं। वस्तुतः उनकी शैली में रोचकता, तार्किकता, उक्ति-वैचित्र्य की निपुणता, भावों की स्वाभाविकता, भाषा का लालित्य सहज ही देखने को मिलते हैं।

उनके काव्य की विशेषता है कि यहाँ आदर्शवादी व्यक्ति को नीतिपरक श्लोकों की उपलब्धि होती है, शृंगारिक वृत्ति वाले पाठक को शृंगाररस से ओतप्रोत काव्य के दर्शन

होते हैं तथा विरक्त व्यक्ति को उसकी रुचि के अनुरूप शान्तरस की अनुभूति होती है। यहाँ पर आचार, नीति, कर्तव्याकर्तव्य, परोपकार, दुर्जन, सज्जन, कर्म, भाग्य, मान, शौर्य, क्रौर्य, प्रेम, नश्वरता आदि सभी विषयों को कवि ने अपनी लेखनी का विषय बनाया है।

उनके श्लोक इतने मार्मिक हैं कि सीधे हृदय पर प्रभाव डालते हैं। रसों की दृष्टि से उनके काव्य में शृंगार, वीर और शान्त रस का सर्वाधिक प्रयोग मिलता है। वीभत्स रस का यहाँ प्राय: अभाव ही है।

महाकवि भर्तृहरि के काव्यों में सर्वाधिक शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग मिलता है। इसके अतिरिक्त स्रग्धरा, आर्या, अनुष्टुप्, वसन्ततिलका, शिखरिणी, हरिणी, द्रुतविलम्बित, इन्द्र-वज्रा, उपेन्द्रवज्रा उपजाति, वंशस्थ आदि छन्दों का भी प्रयोग किया है। उनके सभी छन्द प्राय: गेयात्मकता लिए हुए हैं।

अन्त में हम महाकवि भर्तृहरि की भाषाशैली के विषय में संक्षेप में इतना ही कह सकते हैं कि उनके काव्य में कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष अधिक प्रबल रहा है। उनके काव्य का प्रमुख उद्देश्य है, मानव जीवन के विविध पक्षों को चित्रित करते हुए सम्पूर्ण समाज को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करना। जिसमें उन्होंने अधिकाँश रूप में सफलता भी अर्जित की है। सुभाषित तो उनके तीनों शतकों में पदे-पदे भरे पड़े हैं।

उपर्युक्त कथ्यों की पुष्टि में कुछ उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। भाषा का माधुर्य एवं सरल स्वरूप द्रष्टव्य है—

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला:,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजा:।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥२०॥

प्रेम का अस्थिर स्वरूप ऐन्द्रिक सुख के प्रति वैराग्य तो स्वयं कवि के जीवन में भी हलचल पैदा कर देता है। विषय प्रतिपादन के साथ-साथ भाषा का प्रवाह द्रष्टव्य है—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्त:।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥२॥

धन के विषय में कवि की अभिव्यक्ति कितनी सुन्दर बन पड़ी है—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥४३॥

शृंगारशतक में स्त्री सेवा ही सर्वोपरि बताई गई है—

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यं, आर्याः समर्यादमुदाहरन्तु।

सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्।। (२-१५)

किन्तु विषय भोग ही जीवन का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। ये सब तो नाशवान् है, इसका प्रतिपादन भी द्रष्टव्य है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।

कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।

अथ नीतिशतकम्

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय[1] नमः शान्ताय तेजसे[2]।।१।।

अन्वय– दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये, स्वानुभूत्येकमानाय शान्ताय तेजसे नमः।

पदच्छेद– दिक् + कालादि + अनवच्छिन्न + अनन्त + चिन्मात्रमूर्तये, स्वानुभूति + एकमानाय शान्ताय तेजसे नमः।

अनुवाद– दिशा, काल आदि से आच्छन्न न होने वाले, अन्तरहित, चैतन्यमात्र स्वरूप वाले, स्वानुभूतिमात्र प्रमाण वाले, शान्तस्वरूप, तेजोस्वरूप (परमपिता, परमब्रह्म) को नमस्कार है।

व्याख्या– जिस परमब्रह्म को देश, काल आदि सीमित सांसारिक तत्त्वों द्वारा आच्छादित नहीं किया जा सकता अर्थात् उसे देश अथवा समय की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता, जिसका कभी भी अन्त नहीं होता है। चैतन्य ही जिसका स्वरूप है, शान्तस्वरूप वाले, ज्योतिपुत्र स्वरूप वाले परमपिता परमात्मा को नमस्कार है।

विशेष– १. ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए संस्कृत काव्यों में मंगलाचरण की परम्परा रही है। जिसका निर्वाह महाकवि ने यहाँ प्रथम श्लोक में निराकार परमात्मा को प्रणाम करके किया है।

मंगलाचरण तीन प्रकार का होता है— आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक तथा वस्तु-निर्देशात्मक। इनमें से **प्रथम** मंगलाचरण में कवि श्रोताओं अथवा दर्शकों के लिए 'वः पातु' आदि पदों का प्रयोग करके मंगलकामना करता है। **द्वितीय** में कवि अपने इष्ट देव को 'नमः' आदि पदों का प्रयोग करते हुए प्रणाम निवेदन करता है। **तृतीय** मंगलाचरण में कथावस्तु का संक्षेप में प्रतिपादन करना भी वस्तुनिर्देशात्मक के अन्तर्गत आता है, जैसे मेघदूत में।

२. 'नमः स्वतिस्वाहास्वधाऽलंवषट् योगाच्च' सूत्र से 'नमः' पद के योग में परमात्मा के सभी विशेषणों में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

३. अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विःचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः।।

---

१. स्वानुभूत्येकसाराय

२. अमूर्तये नमस्तस्मै गुणातीतगुणात्मने।।

४. स्वभावोक्ति अलंकार प्रयुक्त हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

१. कालादि + अनवच्छिन्न = कालाद्यनवच्छिन्न (यण्-इंकोयणचि)

२. अनवच्छिन्न + अनन्त = अनवच्छिन्नानन्त (दीर्घ - अक:सवर्णे दीर्घ:)

३. स्व + अनुभूति + एकमानाय (दीर्घ, यण् संधि)

४. न अनन्त इति अनन्त (नञ् समास)

५. शान्ताय = शान्त + ङे (चतुर्थी विभक्ति, एकवचन)

६. दिशश्च कालादयश्च तैरनवच्छिन्ना अनन्ता चिन्मात्रा मूर्ति: यस्य तस्मै।

७. स्वस्य अनुभूति: स्वानुभूति:, स्वानुभूतिरेकं मानं यस्य तस्मै।

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्त:।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च।।२।।

अन्वय- (अहम्) याम् सततम् चिन्तयामि, सा मयि विरक्ता (वर्तते)। सा अपि अन्यम् जनम् इच्छति, स: जन: अन्यसक्त: (च) अस्मत् कृते च काचित् अन्या परितुष्यति। ताम् च तम् च मदनम् च इमाम् च माम् च धिक्।

अनुवाद- (मैं) जिस (स्त्री) का निरन्तर चिन्तन करता हूँ; वह मुझसे विरक्त (है)। वह भी दूसरे पुरुष को चाहती है (और) वह पुरुष (भी) अन्य (स्त्री) के प्रति आसक्त है और मेरे लिए कोई अन्य स्त्री व्याकुल है। उस (स्त्री) को, उस (पुरुष) को, कामदेव को, इस (स्त्री) को और मुझको धिक्कार है।

प्रसंग- कहते हैं महाकवि भर्तृहरि अपनी युवावस्था में विषयों में अत्यधिक आसक्त रहते थे। एक बार उन्हें अपने जीवन में अत्यन्त कटु अनुभव हुआ। एक योगी ने उन्हें ऐसा फल लाकर दिया जिसे खाने से व्यक्ति सदैव युवा रहता था। उन्होंने वह फल अपनी प्रियतमा को दे दिया, उनकी प्रियतमा किसी अन्य पुरुष से प्रेम करती थी। अत: उसने वह अपने प्रियतम को दे दिया। उसका प्रियतम एक वेश्या से प्रेम करता था। अत: वह उसने उस वेश्या को दे दिया और वह वेश्या राजा के प्रति आदर भाव रखती थी। इसलिए उसने पुन: वह महाराज की सेवा में प्रस्तुत कर दिया। जब महाराज ने इस फल के विषय में गहन जानकारी प्राप्त की तो उन्हें वास्तविकता का पता चला तथा उन्होंने इस श्लोक का कथन करते हुए वैराग्य ले लिया और वैराग्यशतक की संरचना की।

व्याख्या- जिस अपनी प्रियतमा के विषय में मैं रात और दिन निरन्तर विचार करता रहता हूँ। वह मुझसे प्रेम नहीं करती, किन्तु वह अन्य किसी पुरुष के प्रति आसक्त मन

वाली है और वह पुरुष जिसे वह चाहती है किसी अन्य स्त्री को चाहता है एवं वह स्त्री मेरे प्रति अनुराग रखती है। इस प्रकार इस संसार में सभी लोग मानो एक उलझन में हैं जिन्हें यह कामदेव उलझाए रखता है। इसलिए उस कामदेव को उस स्त्री को, उस पुरुष को इस स्त्री को और मुझे एवं सभी को धिक्कार है, जो इन निस्सार बातों में अपने मूल्यावान् जीवन को व्यर्थ ही गंवाते रहते हैं।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक की भाषा अत्यन्त सरल, भावबोधगम्य, प्रसादगुणयुक्त एवं प्रवाहपूर्ण प्रयुक्त हुई है।

२. सांसारिक निस्सारता का बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुतीकरण किया गया है।

३. जैसा ऊपर बताया गया है, कहते हैं यह श्लोक महाकवि भर्तृहरि की स्वयं की जिन्दगी से सम्बन्धित है।

४. ''धिगुपर्यादिषु त्रिषु'' इत्यादि सूत्र से 'धिक्' के योग में तां, तं, मदनम् आदि पदों में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

५. प्रस्तुत श्लोक में वसन्ततिलका छन्द प्रयुक्त हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

उक्ता वसन्ततिलकं तभजाजगौ गः॥

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. अपि + अन्यम् (इ→य् = यण्, इकोयणचि)

२. जनः + अन्यसक्तः (:— उ— ओ, पूर्वरूप, अतो रोरप्लुतादप्लुते, एङः पदान्तादति)

३. विरक्ताः = वि + √रञ्ज् + क्त + टाप् (स्त्रीलिंग, प्रथमा विभक्ति, बहु वचन)

४. सक्तः = √सञ्ज् + क्त

मूर्ख पद्धतिः

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम्॥३॥

अन्वय– बोद्धारः मत्सरग्रस्ताः (सन्ति), प्रभवः स्मयदूषिताः (वर्तन्ते), अन्ये च अबोधोपहताः (अनेन) सुभाषितम् अङ्गे जीर्णम् (भवति)।

अनुवाद– विद्वान् ईर्ष्या से युक्त (हैं), ऐश्वर्यसम्पन्न अहंकार से भरे हुए (हैं) और दूसरे (लोग) अज्ञान से युक्त हैं, (इसलिए) सुन्दर-सुन्दर बातें अंगों में ही नष्ट हो जाती हैं।

व्याख्या– इस संसार में तीन प्रकार के लोग हैं, विद्वान्, धनवान् और अज्ञानी। इनमें से प्रथम श्रेणी के विद्वान् लोग तो दूसरे विद्वान् से ईर्ष्या करने के कारण उनके द्वारा कही

गई अच्छी-अच्छी बातों को सुनने में रुचि नहीं लेते हैं। दूसरी श्रेणी के ऐश्वर्यसम्पन्न लोगों को अपने धन का अत्यन्त अहंकार होने का कारण, वे उनकी बातों को नहीं सुनते। तीसरी श्रेणी के बचे हुए लोग अज्ञानी होने से उन बातों को चाहकर भी समझ नहीं पाते हैं। कवि कहता है कि इसलिए जो सुभाषित कोई विद्वान् कवि कहना चाहता है, अभिव्यक्ति का अवसर न मिलने के कारण उसकी मृत्यु के साथ ही नष्ट हो जाते हैं।

विशेष- १. प्रस्तुत श्लोक की भाषा अत्यन्त सरल, भाव बोधगम्य, प्रवाहपूर्ण एवं भावों की अभिव्यक्ति में समर्थ है।

२. इस संसार में सहृदयों के अभाव में बहुत सा काव्य हमारे सामने नहीं आ पाता है।

३. अच्छी-अच्छी, किन्तु उपदेशात्मक बातों को सुनने वालों का इस संसार में अभाव ही है।

४. अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है--

श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं सर्वत्रलघुपञ्चमम्।
द्विःचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः।।

५.यह श्लोक नीतिशतकम् की सभी प्रतियों में उपलब्ध नहीं हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

१. √बुध् + तृच् (प्रथमा विभक्ति., बहुवचन) बोद्धारः।

२. मत्सरेण ग्रस्ताः (तृतीया तत्पुरुष) = मत्सरग्रस्ताः।

३. √ग्रस् + क्त = ग्रस्तः (प्रथमा विभक्ति, पुल्लिंग., बहुवचन.) ग्रस्ताः।

४. सु + √भाष् + क्त = सुभाषितम्। √जॄ + क्त = जीर्णम्।

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि च तं नरं न रञ्जयति।।४।।

अन्वय- अज्ञः सुखम् आराध्यः, विशेषज्ञः सुखतरम् आराध्यते, (किन्तु) ज्ञानलवदुर्विदग्धम् च तम् नरम् ब्रह्मा अपि न रञ्जयति।

अनुवाद- अज्ञानी को सरलता से समझाया जा सकता है, विशेषज्ञ को और भी अधिक सरलता से समझा सकते हैं, (किन्तु) ज्ञान का लेशमात्र प्राप्त कर (स्वयं को) विद्वान् मानने वाले उस व्यक्ति को तो ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकता है।

व्याख्या- इस संसार में तीन प्रकार के लोग होते हैं, अज्ञ, विशेषज्ञ और पण्डितमानी। इन तीनों व्यक्तियों के लिए महाकवि कहते हैं कि जो लोग कुछ नहीं जानते, उन्हें आप किसी बात को सरलता से समझा सकते हैं, क्योंकि अज्ञानता के कारण वह जो भी आप बताएँगें अच्छे शिष्य के समान स्वीकार करता चलेगा। इसी

प्रकार दूसरी श्रेणी के, बात को भलीभाँति समझने वाले व्यक्ति को आप संकेतमात्र से ही किसी बात को सरलतम रूप में समझा सकते हैं, किन्तु किसी विषय में अल्पज्ञान प्राप्त कर स्वयं को विद्वान् समझने वाले पण्डितमन्य को तो यदि स्वयं ब्रह्मा भी आकर विषय समझाना चाहे तो भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि कदम-कदम पर उसका अहंकार विषय को समझने में बाधा उत्पन्न करता रहेगा। उसका समझाने वाले व्यक्ति के प्रति श्रद्धाभाव उत्पन्न नहीं हो सकेगा।

विशेष- १. प्रस्तुत श्लोक में प्रतिपादन किया गया है कि अहंकार ज्ञानप्राप्ति में सर्वाधिक बाधक है।

२. इसमें संसार के सभी लोगों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है— अज्ञ, विशेषज्ञ तथा पण्डितमानी।

३. आर्या छन्द का प्रयोग हुआ— 'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये, चतुर्थके पञ्चदश सार्या।'

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

१. ब्रह्मा + अपि (आ + अ = आ, अकः सवर्णे दीर्घः)

२. सुखम् + आराध्यः (अज्झीनं परे संयोज्यम्)

३. अज्ञः = न जानाति इति (नञ् समास) न + √ज्ञा + क

४. विशेषज्ञः, विशेषेण जानाति इति। विशेष + √ज्ञा + क (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

५. ज्ञानलवेन = ज्ञानस्य लवेन (षष्ठी तत्पुरुष)

६. दुर्विदग्धम् = दुर् + वि + √दह् + क्त

७. रञ्जयति = √रञ्ज् + तिप् (लट् लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन)

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्र दंष्ट्राङ्कुरात्,
समुद्रमपि सन्तरेत् प्रचलदूर्मिमालाकुलम्।
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद् धारयेत्,
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥५॥

अन्वय- (जनः) मकरवक्त्रदंष्ट्रांकुरात् प्रसह्य मणिम् उद्धरेत्, प्रचलद् उर्मिमालाकुलम् समुद्रम् अपि सन्तरेत्, कोपितम् भुजंगम् अपि शिरसि पुष्पवद् धारयेत्, तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तम् न आराधयेत्।

अनुवाद- (व्यक्ति) सम्भव है मगर के मुँह में दाढ़ की नोक से बलपूर्वक मणि को निकाल ले, सम्भव है (वह) अत्यन्त चञ्चल लहरों के समूह से व्याप्त समुद्र को भी पार कर ले, क्रुद्ध भयंकर सर्प को भी (सम्भव है वह) सिर पर पुष्प के समान धारण कर ले, किन्तु दुराग्रही मूर्ख व्यक्ति के (हठी) मन को प्रसन्न नहीं कर सकता।

व्याख्या– इस संसार में व्यक्ति कोई भी कठिन से कठिन, असम्भव से असम्भव कार्य भी यदि चाहे तो करने में समर्थ है, किन्तु दुराग्रही हठी मूर्ख व्यक्ति के मन को प्रसन्न करना एकदम असम्भव है। इस प्रसंग में कवि तीन असम्भव कार्यों की पूर्ति की सम्भावना अभिव्यक्त करते हुए कहता है कि व्यक्ति यदि चाहे तो मगरमच्छ के भयावह मुख में स्थित दाढ़ों के बीच में रखी हुई मणि को भी सम्भव है प्रयत्न करने पर निकाल ले।

हो सकता है वह प्रयास करने पर ऊँची-ऊँची उठती हुई लहरों वाले समुद्र को भी तैर कर पार कर ले। इतना ही नहीं, सम्भव है व्यक्ति किसी क्रोध से पागल भयंकर सर्प को भी निडर होकर पुष्पमाला के समान अपने मस्तक पर धारण कर ले। हालांकि ये उपर्युक्त तीनों कार्य एकदम असम्भव हैं, किन्तु कवि की दृष्टि में व्यक्ति इन्हें भी प्रयास करने पर सिद्ध कर सकता है, किन्तु मूर्ख, व्यक्ति का हठी चित्त प्रसन्न करना पूर्णतया असम्भव है, क्योंकि वह तो ''**करेला और नीम**'' चढ़ा कहावत के अनुसार किसी की भी बात सुनने को तैयार ही नहीं होगा। अतः उसे तो मनाया ही नहीं जा सकता है।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक में कवि ने तीन अत्यन्त कठिन कार्यों— (१) मगर के मुख से मणि निकालना, (२) ऊँची-ऊँची लहरों से भरे हुए समुद्र को भी तैर कर पार करना, (३) भयंकर और क्रुद्ध सर्प को भी सहज ही माला के समान सिर पर धारण करना जैसे पूर्णतया असम्भव कार्यों को भी परिश्रम अथवा दुःसाहस आदि द्वारा सम्भव बताया; किन्तु एक तो मूर्ख, फिर ऊपर से हठी व्यक्ति का प्रसन्न होना पूर्णतया असम्भव है।

२. एक यूरोपीय विद्वान् लावेल ने भी कहा है— केवल मूर्ख और मृतक अपनी राय नहीं बदलते।

३. प्रस्तुत श्लोक में अत्यन्त व्यावहारिक तथ्य को प्रतिपादित किया गया है।

४. पृथिवी छन्द का प्रयोग हुआ है; लक्षण इस प्रकार है—

जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथिवी गुरुः।

५. उपमा और रूपकातिशयोक्ति अलंकार प्रयुक्त हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. कोपितम् = √कुप् + णिच् + क्त (द्वितीया विभक्ति, एकवचन)

२. मालाकुलम् = माला + आकुलम् (आ + आ = आ, अकः सवर्णे दीर्घः)

३. प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तम् = प्रतिनिविष्टः यः मूर्खजनः तस्य चित्तम्।

४. वक्त्र = √वच् + त्र, दंष्ट्रा = √दंश् + ष्ट्रन्, प्रसह्य = प्र + √सह् + ल्यप् संतरेत् = सम् + √तृ + तिप् (विधिलिंग, प्रथम पुरुष, एकवचन) भुजङ्गं = भुज + √गम् + ख (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) प्रतिनिविष्ट = प्रति + नि + √विश् + क्त, आराधयेत् =आ √राध् + तिप् (विधिलिंग प्रथम पुरुष, एकवचन)।

लभेत् सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्,
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः।
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेत्,
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्।।६।।

अन्वय- यत्नतः पीडयन् (मनुष्यः) सिकतासु अपि तैलम् लभेत् पिपासार्दितः (सः) मृगतृष्णिकासु सलिलम् पिबेत्, पर्यटन् कदाचित् (कोऽपि जनः) शशविषाणम् अपि आसादयेत्, प्रतिनिविष्ट मूर्खजनचित्तम् तु न आराधयेत्।

अनुवाद- (सम्भव है व्यक्ति) यत्नपूर्वक दबाता हुआ रेत से भी तेल प्राप्त कर ले, प्यास से व्याकुल हुआ (सम्भव है) मृग तृष्णिकाओं में (भी) जल पी लेवे। (हो सकता है) घूमता हुआ कभी खरगोश के सींग भी प्राप्त कर ले, किन्तु (वह) मूर्ख व्यक्ति के हठी चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकता है।

व्याख्या- पूर्व श्लोक के समान ही कवि ने यहाँ भी तीन पूर्णतया असम्भव कार्यों के सम्पन्न होने की सम्भावना व्यक्त की है, किन्तु मूर्ख व्यक्ति के हठी चित्त को प्रसन्न करने के विषय में किसी भी प्रकार व्यक्ति को सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, यह बात यहाँ कही गई है।

कवि सम्भावना व्यक्त करता है कि यों तो रेत में तेल लेशमात्र भी नहीं होता, किन्तु हो सकता है कि व्यक्ति को, अत्यन्त परिश्रम से दबाने पर रेत के कणों से तेल की एव दो बूँद प्राप्त हो जाए। ठीक इसी प्रकार वैसे तो मृगतृष्णिका में किसी स्थिति में व्यक्ति को पानी की प्राप्ति सम्भव नहीं है, किन्तु हो सकता है कभी संयोग से उसे जल की प्राप्ति मृगतृष्णिका में भी हो जाए। इसी प्रकार यद्यपि खरगोश के सींग नहीं होते, किन्तु सम्भव है यों ही कभी जंगलादि में घूमते हुए उसे खरगोश के सींग भी प्राप्त हो जाएँ। अर्थात् उपर्युक्त तीनों कार्य यद्यपि असम्भव ही हैं, किन्तु हो सकता है किसी परिस्थिति विशेष में संयोगवश ये सम्भव भी हो जाए। लेकिन ऐसा व्यक्ति जो मूर्ख भी हो और साथ-साथ हठी भी हो, उसके चित्त को तो प्रसन्न करना एकदम असम्भव ही है। उसकी प्रसन्न होने की तो लेशमात्र भी सम्भावना नहीं है।

विशेष- १. पूर्व श्लोक के समान ही इसमें भी कवि ने मूर्ख व्यक्ति यदि हठी भी हो तो उसका प्रसन्न किया जाना एकदम असम्भव बताया है।

२. यहाँ रेत से तेल प्राप्त करना, मृगमरीचिका में जल पीना तथा खरगोश के सींग प्राप्त करना तीनों बातें पूर्णतया असम्भव है; किन्तु फिर भी कवि ने उनकी पूर्ति की सम्भावना व्यक्त की है, इसका अभिप्राय केवल तुलनात्मक रूप में मूर्ख एवं हठी चित्त की प्रसन्नता की कठिनता के अतिरेक का प्रतिपादन करना मात्र है।

३. यहाँ भी पृथिवी छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षणपूर्ववत्।

४. मरुस्थल में प्रकाश की किरणों के कारण जल की प्रतीति होना, मृगतृष्णा या मृगमरीचिका कहलाता है।

५. शशविषाण पूर्णतया असम्भव वस्तु या कार्य के लिए लोक व्यवहार में प्रयुक्त होता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. पिपासार्दितः =पिपासा + अर्दितः (आ + अ = आ, अकः सवर्णे दीर्घः) पिपासया अर्दितः (तृतीया तत्पुरुष समास) पिपासा = √पा + सन् + अ + टाप्। अर्दितः = √अर्द + क्त।

२. कदाचित् + अपि (व्यञ्जन संधि, झलां जशोऽन्ते)

३. पर्यटञ्छशविषाण....... = पर्यटन् + शशविषाण.......... (व्यञ्जन संधि- शशछोऽटि)

४. पीडयन् = √पीड् + शतृ (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

५. मृगतृष्णिकासु = मृगाणां तृष्णा यत्र सा मृगतृष्णा तासु

६. पर्यटन् = परि + √अट् + शतृ (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

७. शशविषाणम् = शशस्य विषाणम् (षष्ठी तत्पुरुष)

८. आसादयेत् = आ + √सद् + णिच् (विधिलिंग, प्रथम पुरुष, एकवचन)

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते,
छेत्तुं वज्रमणीञ्छिरीषकुसुमप्रान्तेन संनह्यति।
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते,
नेतुं वाञ्छति यः खलान् पथि सतां सूक्तैः सुधास्यंदिभिः।।७।।

अन्वय– असौ बालमृणालतन्तुभिः व्यालम् रोद्धुम् समुज्जृम्भते, शिरीषकुसुमप्रान्तेन वज्रमणीम् छेत्तुम् सन्नह्यते, मधुबिन्दुना क्षाराम्बुधेः माधुर्यम् रचयितुम् ईहते, यः सुधास्यन्दिभिः सूक्तैः खलान् सताम् पथि नेतुम् वाञ्छति।

अनुवाद– वह (व्यक्ति) कोमल कमलनाल के धागों से (मदमस्त) हाथी को रोकने के लिए उद्यत होता है, (कोमल) शिरीष के फूल (की पंखुडी) के किनारे से अत्यन्त कठोर मणि (हीरे) को काटने के लिए चेष्टा करता है, शहद की एक बूँद से खारे समुद्र को मीठा बनाना चाहता है, जो अमृतवर्षी सूक्तियों के द्वारा दुष्टों को सज्जनों के मार्ग पर ले जाना चाहता है।

व्याख्या– किसी दुष्ट स्वभाव के व्यक्ति को अच्छी-अच्छी बातों का उपदेश देकर यदि कोई व्यक्ति सज्जन बनाना चाहता है तो वह मानो ठीक उसी प्रकार पूर्णतया असम्भव एवं मूर्खतापूर्ण कार्य कर रहा है जैसे— कमल की नाल में स्थित धागों (रेशों)

से किसी मदमस्त हाथी को बाँधना। शिरीष पुष्प की कोमल पंखुड़ियों के किनारे से वज्र के समान कठोर मणि, हीरे आदि को काटना तथा शहद की एक बूँद के द्वारा विशाल खारे समुद्र को मीठा करना।

कहने का तात्पर्य यह है कि मदमस्त हाथी को बड़ी-बड़ी जंजीरों के द्वारा ही बाँधा जा सकता है। कमलनाल के धागों से बाँधने का प्रयास पूर्णतया मूर्खतापूर्ण एवं असम्भव है— ठीक इसी प्रकार हीरे आदि कठोर मणि को किसी भी कठोरतम पुष्प की पंखुड़ियों से काटना एकदम असम्भव एवं मूर्खतापूर्ण कार्य है। ठीक वैसे ही एक शहद की बूँद से अथाह जलराशि वाले समुद्र के जल को मीठा करने का प्रयास भी मूर्खतापूर्ण एवं असम्भव है— वैसा ही मूर्खतापूर्ण कार्य अच्छी-अच्छी अमृतवर्षी बातों को सुना-सुनाकर मूर्खों को सज्जनों के मार्ग पर लाने का भी है। अर्थात् जिस प्रकार उपर्युक्त तीनों कार्य असम्भव हैं, ठीक उसी प्रकार दुष्टों को अच्छी-अच्छी बातों का उपदेश देकर सज्जन नहीं बनाया जा सकता।

विशेष– १. सदुपदेश से किसी भी स्थिति में दुष्ट स्वभाव को सज्जनता में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, इसका प्रतिपादन अत्यन्त सुन्दर ढंग से यहाँ किया गया है।

२. उत्तम शिक्षा के लिए सत्पात्र होना प्रथम अनिवार्य आवश्यकता है।

३. प्रस्तुत श्लोक में निदर्शना अलंकार है, जिसका लक्षण इस प्रकार है—

अभवन् वस्तु सम्बन्धः उपमा परिकल्पकः। निदर्शना॥

४. शार्दूलविक्रीडित छन्द प्रयुक्त हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

सूर्याश्वै र्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्॥

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. बालमृणालतन्तुभिः— बालाःमृणालाःबालमृणालाः,तैःतन्तुभिःबालमृणालतन्तुभिः

२. रोद्धुम् = √रुध् + तुमुन्। समुज्जृम्भते = सम् + उत् + √जृम्भ् + तिप् (लट् लकार, आत्मने, प्रथम पुरुष, एकवचन) मधुबिन्दुना = मधुनः बिन्दुना (षष्ठी तत्पुरुष)

३. छेत्तुम् = √छिद् + तुमुन्। नेतुम् = √नी + तुमुन्। रचयितुम् = √रच् + तुमुन्। ईहते = √ईह् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मने पद)

४. सन्नह्यते = सम् √नह् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन आ.)

५. स्यन्दिभिः = √स्यन्द् + णिनि + भिस् (तृतीया विभक्ति, बहुवचन)। सूक्तैः = सु + √वच् + क्त + भिस् (तृतीया विभक्ति, बहुवचन)। वाञ्छति = √वाञ्छ् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन)।

६. क्षाराम्बुधेः = क्षार अम्बुधिः क्षाराम्बुधिः तस्य।

स्वायत्तमेकान्तगुणं[1] विधात्रा
विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।
विशेषतः सर्वविदां समाजे
विभूषणं मौनमपण्डितानाम्॥८॥

अन्वय– विधात्रा अज्ञतायाः छादनम् स्वायत्तम् एकान्तगुणम् (मौनम्) विनिर्मितम्। विशेषतः सर्वविदाम् समाजे मौनम् अपण्डितानाम् भूषणम् (एव वर्तते)।

अनुवाद– विधाता ने मूर्खता को छिपाने के लिए (पूर्णतया) स्वाधीन (एवं) एकमात्र गुणाकारी (मौन का) निर्माण किया है। विशेष रूप से विद्वानों के समाज में मौन मूर्खों का आभूषण ही है।

व्याख्या– मूर्ख व्यक्ति को अपनी मूर्खता छिपाने के लिए विधाता ने मानो मौन रूपी एक उपहार भेंट किया है, जिसकी दो विशेषताएँ है– प्रथम उसके लिए मूर्ख व्यक्ति को दूसरे के अधीन नहीं रहना पड़ता अर्थात् चुप रहना पूर्णतया उसके अपने वश में है तथा इसमें केवल गुण ही गुण हैं, क्योंकि इससे हानि की कोई सम्भावना ही नहीं है।

विशेष रूप से उस सभा या समाज में जहाँ विद्वानों का ही बाहुल्य हो, यह मौन वास्तव में मूर्खों के लिए आभूषण के समान ही है, क्योंकि जैसे ही मूर्ख व्यक्ति बोलेगा वैसे ही उसकी अज्ञानता का लोगों को पता चल जाएगा। अतः विद्वत्समाज में चुप रहना मूर्खों के लिए एक अलंकरण का ही कार्य करता है।

विशेष– १. विद्वानों के समक्ष अल्पज्ञ अथवा मूर्ख व्यक्ति को सदैव चुप रहना चाहिए।

२. एकान्तगुणम् के स्थान पर एकान्तहितम् भी पाठभेद प्राप्त होता है, जिसका अर्थ होगा– एकमात्र हितकारी।

३. इस प्रसङ्ग में नीतिकार चाणक्य का कथन विशेषतया उल्लेखनीय है–

मूर्खोऽपि शोभते तावत् सभायां वस्त्रवेष्टितः।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत् किञ्चिन्न भाषते॥

४. इसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति अंग्रेजी के विद्वान् की भी है–
A fool when he is silent is wise.
Silence is the wit of fools.

५. यहाँ उपजाति छन्द प्रयुक्त हुआ है, लक्षण इस प्रकार है–

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः
उपेन्द्र वज्रा जतजास्ततो गौ।

---

१. एकान्तहितम्।

इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा को मिलाकर उपजाति छन्द बनाता है।

६. मौन रूप आभूषण की दो विशेषताओं का यहाँ उल्लेख किया है। **प्रथम** इसके लिए व्यक्ति पूर्णतया स्वाधीन होता है। **द्वितीय** इसमें लाभ ही लाभ है, हानि की कोई सम्भावना ही नहीं है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

विधात्रा = वि + √धा + तृच् (तृतीया विभक्ति, एकवचन)
छादनम् = √छद् + णिच् + ल्युट् (नपु., प्रथमा विभक्ति, एकवचन)
विनिर्मितम् = वि + निर् + √मा + क्त (नपु. , प्रथमा विभक्ति, एकवचन)
विभूषणम् = वि + √भूष् + ल्युट् (नपु., प्रथमा विभक्ति, एकवचन)
अपण्डितानाम् = न पण्डितः इति अपण्डितः, तेषाम् (नञ् समास)

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥९॥

अन्वय– यदा अहम् किञ्चित् ज्ञः (आसम्) द्विपः इव मदान्धः समभवम्, तदा मम मनः सर्वज्ञः अस्मि इति अवलिप्तम् अभवत्। यदा बुधजनसकाशात् किञ्चित् किञ्चित् अवगतम्, तदा मूर्खः अस्मि इति मे मदः ज्वरः इव व्यपगतः।

अनुवाद– जब मैं थोडा सा जानता (था तो मैं) हाथी के समान मद से अंधा हो गया था, तब मेरा मन (मैं) सर्वज्ञ हूँ, इस प्रकार (सोचकर) अहंकारयुक्त हो गया था। जब विद्वानों के सन्निध्य से (मैंने) कुछ-कुछ समझा, तब '(मैं) मूर्ख हूँ', इस प्रकार मेरा मद ज्वर के समान दूर हो गया।

व्याख्या– कवि कहता है कि जिस समय मैंने अत्यल्प जाना था तो मैं अपने को सर्वज्ञ मानता था और जिस प्रकार हाथी मद में अंधा रहता है तथा उचित अनुचित का ध्यान नहीं रखता। अपने सामने अन्य किसी को सामर्थ्यशाली नहीं मानता, ठीक उसी प्रकार मुझे भी अहंकार हो गया था कि मैं ही सबसे अधिक विद्वान् हूँ। मैं ही सब कुछ जानता हूँ, अन्य सब लोग मेरी अपेक्षा अल्पज्ञ हैं।

किन्तु जब मैं ईशकृपा से विद्वानों के सम्पर्क में आया तथा मैंने उनके अथाह ज्ञान का दर्शन किया तो मैंने स्वयं को उनके सामने एकदम मूर्ख माना और मेरा अहंकार, जो स्वयं को सर्वज्ञ मानते हुए मुझे हो गया था, ठीक उसी प्रकार क्षणभर में दूर हो गया, जिस प्रकार औषधि लेने से बुखार दूर हो जाता है।

कहने का तात्पर्य है कि प्रथम तो व्यक्ति को अपने ज्ञान को कभी भी सम्पूर्ण नहीं मानना चाहिए, क्योंकि ज्ञान की कोई सीमा नहीं होती तथा ज्ञानी मानकर कभी भी स्वयं

की योग्यता पर अहंकार नहीं करना चाहिए। अहंकार व्यक्ति के नाश का द्योतक होता है। सत्पुरुषों, विद्वानों की सदैव खोज करनी चाहिए और उससे कुछ न कुछ सीखने का विनम्र प्रयास करना चाहिए।

विशेष– १. आधा भरा घड़ा शब्द करता है, इस कहावत के अनुसार अल्पज्ञता व्यक्ति को अहंकारी बना देती है।

२. प्रस्तुत श्लोक में कवि ने अल्पज्ञ की स्थिति का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है।

३. उपमालंकार का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमा इत्यभिधीयते।

यहाँ अहंकार की मद से उपमा दी गई है।

४. शिखरिणी छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार हैं—

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमन सभलागः शिखरिणी।

५. काव्यलिंग अलंकार-लक्षण-हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगमुदाहृतम्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

किञ्चिज्ज्ञः = किञ्चिद् जानाति इति, किञ्चित् √ज्ञा + क + पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन। द्विपः = द्वाभ्यां पिबति इति, द्वि + √पा + क। सर्वज्ञः = सर्वं जानाति इति। सर्व + √ज्ञा + क। मदान्धः = मदेन अन्धः (तृतीया तत्पुरुष), अवलिप्तम् = अव + √लिप् + क्त। अवगतम् = अव + √गम् + क्त। व्यपगतः = वि + अप + √गम् + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)।

सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तम् = सर्वज्ञः + अस्मि + इति + अभवत् + अवलिप्तम् (विसर्ग, दीर्घ, यण्, व्यञ्जन)।

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि[1] जुगुप्सितं,
निरुपमरसं प्रीत्या खादन्खरास्थि[2] निरामिषम्।
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते,
न हि गणयति क्षुद्रो जन्तु परिग्रहफल्गुताम्।।१०।।

अन्वय– श्वा कृमिकुलचितम्, लालाक्लिन्नम्, विगन्धि, जुगुप्सितम्, निरुपमरसम्, निरामिषम्, खरास्थि प्रीत्या खादन् पार्श्वस्थम् सुरपतिम् अपि विलोक्य न शङ्कते, (वस्तुतः) क्षुद्रः जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् न हि गणयति।

अनुवाद– कुत्ता कीड़ों के समूह से भरे हुए, लार से भीगे हुए, दुर्गन्धित, घृणा को योग्य, अनुपम (बुरे) रस वाली, माँसरहित गदहे की हड्डी को प्रेमपूर्वक खाता हुआ,

---

१. विगर्हि
२. नरास्थि

पास में खड़े हुए इन्द्र को भी देखकर शंकित नहीं होता है (**वास्तव में**) तुच्छ प्राणी ग्रहण की गई (वस्तु की) तुच्छता को नहीं गिनता है।

व्याख्या– कुत्ता यदि उसे किसी हड्डी का टुकड़ा मिल जाए चाहे, उसमें कीड़े क्यों न भरे हुए हों, उसके मुख से निकलने वाली लार से भीगने के कारण कितना भी घृणित क्यों न हो, अत्यन्त दुर्गन्ध आ रही हो तथा उसमें स्वाद भी ऐसा क्यों न हो जिसकी कोई उपमा ही न दी जा सके, उसमें लेशमात्र भी माँस नहीं हो, फिर भी वह अत्यन्त प्रेमपूर्वक उसे चबाते हुए एक असीम आनन्द का अनुभव करता है। उस समय उसे आसपास की भी खबर नहीं रहती, भले ही स्वयं इन्द्र भी उसके पास क्यों न खड़ा हो, उसे कुछ भी देने का इच्छुक क्यों न हो, वह उसकी भी परवाह नहीं करता, न ही उससे तनिक भी भयभीत ही होता है।

वास्तव में नीच स्वभाव वाले प्राणी अपने स्वभाव के कारण खराब से खराब वस्तु की निःसारता को नहीं समझ पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि निकृष्ट स्वभाव वाला प्राणी तुच्छ से तुच्छ वस्तु को अपनाने के बाद बिना किसी की परवाह के उसी में आनन्द का अनुभव करता है।

ठीक इसी प्रकार इस संसार में नीच स्वभाव वाले लोग भी बुरे से बुरे काम में लिप्त हो जाते हैं तथा किसी की भी परवाह किए बिना, लेशमात्र भी लज्जित नहीं होते। उनके लिए उसी में असीम आनन्द की प्राप्ति होती है, उन्हें न तो लोकनिन्दा की परवाह होती हैं और न ही उन्हें ईश्वर से ही डर लगता है।

विशेष– १. नीच स्वभाव वाले व्यक्ति की तुलना कुत्ते से दी गई है।

२. हड्डी चबाते हुए कुत्ते का स्वाभाविक वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार का प्रयोग।

३. अप्रस्तुत कुत्ते के वर्णन द्वारा प्रस्तुत नीच व्यक्ति का वर्णन होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है, लक्षण इस प्रकार है–

अप्रस्तुतस्य कथनात् प्रस्तुतं यत्र गम्यते।

अप्रस्तुत प्रशंसेयं सारूप्यादि नियन्त्रिता।।

४. प्रस्तुत श्लोक में विगन्धि के स्थान पर विगर्हि तथा खरास्थि के स्थान पर नरास्थि पाठभेद भी प्राप्त होता है, तब निन्दित एवं मनुष्य की हड्डी अनुवाद करना होगा।

५. नरास्थि के स्थान पर अर्थौचित्य की दृष्टि से खरास्थि पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि मनुष्य की हड्डी की इस प्रकार उपलब्धि सहज नहीं होती।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

कृमिकुलचितं = कृमीणां कुलं— कृमिकुलं तैः चितम्, √चि + क्त। लालाक्लिन्नम् = लालाभिः क्लिन्नम् √क्लिद् + क्त। विगन्धि = वि √गन्ध् + इनि (नपु., द्वितीया विभक्ति, एकवचन)। विगर्हि = वि + √गर्ह् + इनि (नपु., द्वितीया विभक्ति, एकवचन)।

निरुपमरसम् = निर्गता उपमा यस्य सः निरुपमः, निरुपमः रसः यस्मिन्। प्रीत्या = √प्रीञ् + क्तिन् (तृतीया विभक्ति, एकवचन)।

खादन् = √खाद् + शतृ (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)। पार्श्वस्थम् = पार्श्वे तिष्ठति इति पार्श्वस्थः तम्। सुरपतिम् = सुराणां पतिः सुरपतिः तम्। विलोक्य = वि + √लोक् + ल्यप्। परिग्रहस्य फल्गुताम् = परिग्रहफल्गुताम्।

शिरः शार्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्तः[1] क्षितिधरं,
महीध्रादुत्तुंगादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा,
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥११॥

अन्वय- इयम् गंगा स्वर्गात् शार्वम् शिरः, पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरम्, उत्तुंगात् महीध्रात् अवनिम्, अवनेः च अपि जलधिम् (एवम् क्रमशः) अधः अधः स्तोकम् पदम् उपगता अथवा विवेकभ्रष्टानाम् विनिपातः शतमुखः भवति।

अनुवाद- इस गंगा ने, स्वर्ग से शिव के सिर को, शिव के सिर से पर्वत (हिमालय) को, ऊँचे पर्वत से पृथिवी को और पृथ्वी से भी समुद्र को (इस प्रकार क्रमशः) नीचे-नीचे स्थान को प्राप्त किया अथवा विवेक से भ्रष्ट हुए लोगों का पतन सैकड़ों प्रकार से होता है।

व्याख्या- इस संसार में व्यक्ति जब विवेक भ्रष्ट होता है तो उसके पतन की कोई सीमा नहीं होती, इसी विचार को प्रतिपादित करते हुए कवि यहाँ गंगा का उदाहरण देते हुए कहता है कि यह गंगा प्रारम्भ में स्वर्ग जैसे ऊँचे एवं श्रेष्ठ स्थान पर विराजमान थी, किन्तु जब इसका पतन होना प्रारम्भ हुआ तो यह स्वर्ग से कैलाश पर्वत पर विराजमान शिव के सिर पर गिरी, वहाँ भी यह स्थिर नहीं रह सकी तथा वहाँ से इसका पतन हिमालय पर्वत पर हुआ। हिमालय पर्वत जैसे उत्तुंग स्थल पर भी यह नहीं टिक सकी, अपितु इसका वहाँ से पृथ्वी पर पतन हुआ और पृथ्वी से अन्त में सर्वाधिक नीचे स्थान समुद्र को प्राप्त करके ही इसने विराम लिया। जहाँ इसका अपना अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

इस प्रकार जब व्यक्ति विवेकरहित होता है तो उसका इतना आधिक पतन होता है कि अन्त में वह गंगा के समान ही अस्तित्वहीन हो जाता है। अतः व्यक्ति को अपना विवेक कभी भी नहीं त्यागना चाहिए। किसी भी कार्य को करने से पूर्व कर्तव्य अकर्तव्य का विचार अवश्य करना चाहिए।

विशेष- १. व्यक्ति को कोई भी कार्य भलीभाँति विचार कर, विवेकपूर्वक ही करना चाहिए।

---

१. पतति शिरस्तत्

२. अर्थान्तरन्यास और पर्याय अलंकार का प्रयोग हुआ है।

३. यहाँ गंगा की उपमा विवेकभ्रष्ट व्यक्ति से दी गई है।

४. शिखरिणी छन्द का प्रयोग हुआ है— लक्षण

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमन सभलागः शिखरिणी।

५. यहाँ पाठभेद का अर्थ होगा— शिर से उस प्रसिद्ध हिमालय पर गिरती है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. शर्वस्य इदम्— शार्वम्, शर्व + अण् = शार्वम् (नपु., द्वितीया विभक्ति, एकवचन)

२. जल + √धा + कि = जलधिः

३. विवेकात् भ्रष्टः विवेकभ्रष्टः तेषां विवेकभ्रष्टानां (पञ्चमी तत्पुरुष समास)

४. शतम् मुखानि यस्य सः शतमुखः (बहुव्रीहि समास)

५. वि + नि + √पत् + घञ् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

६. क्षितेः धरः क्षितिधरस्तम् क्षितिधरम्।

७. उप + √गम् + क्त + टाप् = उपगता

८. महीध्रात् + उत्तुंगात् + अवनिम् + अवनेः + च + अपि (व्यञ्जन संधि, झलांजशोऽन्ते) (दीर्घ – अकः सवर्णे दीर्घः)

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो,
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ।
व्याधिर्भेषज संङ्ग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं,
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्॥१२॥

अन्वय– हुतभुक् जलेन वारयितुम् शक्यः, सूर्यातपः छत्रेण, समदः नागेन्द्रः निशिताङ्कुशेन, गोगर्दभौ दण्डेन, व्याधिः भेषजसंग्रहैः च विषम् विविधैः मन्त्रप्रयोगैः (वारयितुम् शक्यते) सर्वस्य शास्त्रविहितम् औषधम् अस्ति (किन्तु) मूर्खस्य (किमपि) औषधम् न अस्ति।

अनुवाद– अग्नि को पानी के द्वारा रोका जा सकता है, सूर्य की धूप को छाते से, मदमस्त हाथी को तीक्ष्ण अंकुश से, बैल और गधे को डण्डे से, रोग को औषधियों के संग्रह द्वारा, विष को अनेक प्रकार के मन्त्र प्रयोग द्वारा (रोका जा सकता है, इस संसार में) सभी की शास्त्रों में (कोई न कोई) औषधि बताई गई है, (किन्तु) मूर्ख की (कोई भी) औषधि नहीं है।

व्याख्या– यदि कहीं आग लग जाए तो उसे पानी डाल कर बुझाया जा सकता है, इसी प्रकार सूर्य की धूप को छाते के प्रयोग द्वारा रोका जा सकता है। मद से अंधे, उद्दण्ड

हाथी को तेज धार वाले अंकुश से वश में किया जा सकता है, सांड या बैल को डण्डे के द्वारा वश में किया जा सकता है। इसी प्रकार औषधियों को इक्ट्ठा करके उनके प्रयोग से सभी प्रकार के रोगों का उपचार सम्भव है एवं किसी व्यक्ति पर विष के प्रभाव को अनेक प्रकार के मन्त्रों के प्रयोग से दूर करना भी सम्भव है।

इस प्रकार हमारे शास्त्रों में प्रत्येक कठिनाई के उपस्थित होने या कष्ट को दूर करने का कोई न कोई उपाय बताया गया है, किन्तु एक मात्र मूर्खता ही एक ऐसा कारण है कि उसका कोई उपचार नहीं है अर्थात् मूर्ख व्यक्ति की मूर्खता को दूर करने का कोई भी उपाय कारगर सिद्ध नहीं होता।

विशेष– १. मूर्खता को यहाँ पूर्णतया असाध्य माना गया है। वस्तुतः मूर्खता एक असाध्य रोग है।

२. यहाँ मूर्ख से अभिप्राय उसकी मूर्खता से ही है।

३. इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है–

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

४. इसी प्रकार के विचार कवि ने पूर्व श्लोकों में भी व्यक्त किए हैं–

न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्।

५. एक अन्य स्थल पर भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए गये हैं–

इत्थं तद् भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ताकृता।

मन्ये दुर्जनचित्तवृत्ति हरणे धातापि भग्नोद्यमः॥

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. हुतम् भुङ्क्ते इति हुतभुक्। हुत + √भुज् + क्विप् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

२. √वृ + णिच् + तुमुन् = वारयितुम्

३. √शक् + यत् = शक्यः (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

४. सूर्यस्य आतपः = सूर्यातपः (षष्ठी तत्पुरुष)

५. मदेन सह = समदः (अव्ययीभाव)

६. नगानाम् इन्द्रः = नगेन्द्रः (षष्ठी तत्पुरुष)

७. निशितेन अंकुशेन (कर्मधारय)

८. गोश्च गर्दभश्च गोगर्दभौ (द्वन्द्व समास)

९. वि + √धा + क्त = विहितम्

१०. भेषजानां संग्रहैः = भेदजसंग्रहैः (षष्ठी तत्पुरुष)

११. शास्त्रैः विहितम् = शास्त्रविहितम् (तृतीया तत्पुरुष)

१२. ओषः पाकः धीयते अस्याम् = औषधम्– ओष + √धा + कि

साहित्य-सङ्गीत-कलाविहीनः,
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानः,
तद् भागधेयं परमं पशूनाम्॥१३॥

अन्वय– साहित्य-संगीत-कला-विहीनः (मनुष्यः) पुच्छ विषाणहीनः साक्षात् पशुः (एव अस्ति) तृणम् न खादन् अपि (सः) जीवमानः तत् पशूनाम् परमम् भागधेयम् (वर्तते)।

अनुवाद– साहित्य संगीत और कला से रहित (व्यक्ति) पूँछ, सींग से रहित साक्षात् पशु (ही है)। तिनके न खाता हुआ भी (वह) जीवित रहता है, वह पशुओं का परम सौभाग्य (ही है)।

व्याख्या– इस संसार में जिस व्यक्ति ने न तो साहित्य का अध्ययन किया, न ही संगीत की शिक्षा प्राप्त की और न ही कला को समझने का प्रयास किया अर्थात् साहित्य, संगीत अथवा कला इन तीनों में से किसी की भी शिक्षा प्राप्त नहीं की। ऐसा व्यक्ति इस संसार में बिना पूँछ एवं बिना सींग का पशु ही है।

और जो यह मनुष्य रूपी पशु बिना तिनके खाए भी जीवित रहता है, वह तो पशुओं का परम सौभाग्य ही है, क्योंकि यदि यह मनुष्य रूपी पशु भी तिनके खाने लग जाता तो निश्चय ही पशुओं के लिए खाद्य पदार्थों का अभाव हो जाता।

विशेष– १. यहाँ साहित्य, संगीत एवं कला को न जानने वाले मनुष्य को पशु के समान बताया है।

२. इस संसार में आकर व्यक्ति को इन तीनों में से कम से कम किसी एक का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए अन्यथा उसका मनुष्य जीवन निरर्थक है।

३. नीतिशतकम् की कुछ प्रतियों में यह श्लोक प्राप्त नहीं होता है।

४. यहाँ उपजाति छन्द का प्रयोग हुआ है लक्षण पूर्व श्लोक में दिया हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. सहित + ष्यञ् = साहित्य। सम् + √गै + क्त = संगीत। वि + √हा + क्त-विहीनः। साहित्यश्च संगीतश्च कला च ताभिः विहीनः = साहित्यसंगीतकलाविहीनः (द्वन्द्व समास)

२. पुच्छश्च विषाणौ च पुच्छविषाणाः तैः हीनः = पुच्छविषाणहीनः।

३. √खाद् + शतृ = खादन् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

४. √जीव् + शानच् = जीवमानः (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

यहाँ शानच् प्रत्यय के स्थान पर शतृ प्रत्यय का प्रयोग करके जीवन् प्रयोग उचित था, क्योंकि जीव् धातु परस्मैपदी है।

येषां न विद्या न तपो न दानं,
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः,
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।१४।।

अन्वय– येषाम् (जनानाम् समीपे) न विद्या, न तपः, न दानम् (न) ज्ञानम्, न शीलम्, न गुणः, न धर्मः (वर्तते) ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः (सन्ति) मनुष्यरूपेण (च) मृगाः चरन्ति।

अनुवाद– जिन (लोगों के पास) न विद्या (है), न तप (है) न दान (है), न ज्ञान (है) न सदाचार (है), न गुण है (और) न धर्म (है) वे (इस) मृत्युलोक में पृथिवी पर भारस्वरूप हैं (और) मनुष्य रूप में पशु (ही) घूम रहे हैं।

व्याख्या– इस संसार में जिन लोगों ने विद्या का अध्ययन नहीं किया अथवा तपस्या का आचरण भी नहीं किया, किसी भी प्राणी को कुछ भी दान नहीं दिया, ज्ञान का अर्जन भी अपने जीवन में नहीं किया, दैनिक जीवन में जो सदाचार का भी पालन नहीं करता है यहाँ तक कि उसके पास कोई गुण भी नहीं है, न ही वह धर्म का ही पालन करता है। ऐसा व्यक्ति इस मृत्युलोक में पृथिवी के ऊपर भार के समाम निरर्थक है और ऐसे व्यक्तियों के लिए यदि हम कहें कि वे इस पृथिवी पर पशु ही घूम रहे हैं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि जिस प्रकार इस संसार में पशु का जीवन निरर्थक है, वैसा ही उस व्यक्ति का जीवन है।

विशेष– १. व्यक्ति को अपना जीवन सार्थक करने के लिए उपरोक्त गुणों में से किसी भी एक को अपने आचरण में लाना चाहिए।

२. जिसके पास उपरोक्त विशेषताओं में से कोई विशेषता नहीं है, उसमें और पशु में कोई भी अन्तर नहीं है, अतः उनका जीवन पूर्णरूपेण निरर्थक है।

३. यहाँ विद्या का प्रथम उल्लेख के कारण उसकी सर्वाधिक महत्ता का कवि का अभिप्राय है।

४. प्रस्तुत श्लोक में प्रथम तीन चरणों में इन्द्रवज्रा तथा चतुर्थ में उपेन्द्रवज्रा होने से उपजाति छन्द का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √दा + ल्युट् = दानम्

२. मर्त्यानां लोके मर्त्यलोके (षष्ठी तत्पुरुष)

३. भारः इव भूताः भारभूताः (कर्मधारय)

४. मनुष्यस्य रूपेण मनुष्यरूपेण (षष्ठी तत्पुरुष)

५. √चर् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन)

६. √ज्ञा + ल्युट् = ज्ञानम्

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि॥१५॥

अन्वय– वनचरैः सह पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तम् वरम् (अस्ति), (किन्तु) मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेषु अपि वरम् न (वर्तते)।

अनुवाद– वनवासियों के साथ दुर्गम पर्वतों में विचरण करना श्रेष्ठ (है, किन्तु) मूर्ख लोगों के साथ इन्द्र के भवनों में भी (रहना) ठीक नहीं (है)।

व्याख्या– यदि व्यक्ति को किसी विशेष परिस्थिति में मूर्ख लोगों के साथ पूर्णतया ऐश्वर्य सम्पन्न सुख सुविधायुक्त स्थानों पर भी रहना पड़े तो व्यक्ति को कभी भी उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि मूर्खों के साथ रहने से व्यक्ति का किसी भी दृष्टि से भला नहीं हो सकता, किन्तु कुसंगति के कारण हानि की ही अधिक सम्भावना रहेगी।

इसलिए व्यक्ति को भले ही कितनी भी कठिनाइयों का सामना करते हुए, कष्ट का अनुभव करते हुए, दुर्गम पर्वत कन्दराओं में पूर्ण अविकसित भीलों के साथ भी क्यों न रहना पड़े, किन्तु उसे मूर्ख लोगों के साथ किसी भी स्थिति में निवास को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

विशेष– १. यहाँ मूर्ख व्यक्ति की संगति की अपेक्षा अधिक से अधिक कष्ट उठाते हुए वनवासियों की संगति को भी श्रेष्ठ बताया है।

२. अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है–

श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं, सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयो र्ह्रस्वं, सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. 'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र के अनुसार सह के योग में वनचरैः पद में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

२. वने चरन्ति इति वनेचराः, तैः वनचरैः (सप्तमी तत्पुरुष)

३. पर्वतानां दुर्गेषु, पर्वतदुर्गेषु (षष्ठी तत्पुरुष)

४. सुराणाम् इन्द्रः सुरेन्द्रः तस्य भवनेषु (षष्ठी तत्पुरुष)

विद्वत्पद्धतिः

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमाः,
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य, कवयस्त्वर्थं विनापीश्वराः,

कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः॥१६॥

अन्वय- शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः, शिष्यप्रदेयागमाः, विख्याताः कवयः यस्य प्रभोः विषये निर्धनाः वसन्ति। तत् वसुधाधिपस्य जाड्यम् (एव)। कवयः तु अर्थम् विना अपि ईश्वराः (सन्ति)। यैः मणयः अर्घतः पातिताः ते कुपरीक्षकाः हि कुत्स्याः स्युः।

अनुवाद- शास्त्रपरिष्कृत शब्दों से सुन्दर वाणी से युक्त, शिष्यों को देने योग्य विद्या से युक्त, प्रसिद्ध कवि जिस राजा के राज्य में निर्धन होकर रहते हैं। वह (तो वस्तुतः) राजा की मूर्खता (ही है) कवि तो धन के बिना भी ऐश्वर्यसम्पन्न (हैं)। जिन (परीक्षकों द्वारा) मणियाँ मूल्य से गिरा दी गईं, वे बुरे परीक्षक ही (वस्तुतः) निन्दनीय हैं (न कि मणियाँ)।

व्याख्या- जिन कवियों के पास व्याकरण सम्मत, मनोरम वाणी है तथा जिनकी अथाह ज्ञानराशि शिष्यों को देने योग्य है अर्थात् जिनमें ज्ञान के साथ-साथ अभिव्यक्ति की सामर्थ्य भी है। इन विशेषताओं से युक्त दूर-दूर प्रदेशों में अपनी योग्यता के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध भी कवि यदि किसी राजा के राज्य में निर्धनता की अवस्था में निवास करते हैं, तो यह उस राजा की ही मूर्खता मानी जाएगी कवियों का इसमें कोई दोष नहीं है।

क्योंकि कवि तो धन के अभाव में भी राजाओं के समान ऐश्वर्य से युक्त हैं, उनका ज्ञान उनका सबसे बड़ा धन है कहा भी गया है— 'विद्या धनं सर्वधनं प्रधानम्।' इसी प्रसंग में कवि एक उदाहरण देते हुए कहता है कि यदि राजा अपने राज्य में रहने वाले विद्वानों का सम्मान नहीं करता, उन्हें राजाश्रय प्रदान नहीं करता, तो इसके लिए निश्चय ही वह राजा ही ठीक उसी प्रकार दोषी है जैसे यदि कोई जौहरी मूल्यवान् मणियों को काँच करार दे दे, तो इसमें दोष जौहरी का माना जाएगा न कि मणियों का। मणियों में तो अपना गुण है ही उसकी परख करने वाले, वस्तुतः जौहरी कहलाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि यदि उनमें सही परख की सामर्थ्य होती तो वे निश्चय ही मूल्यवान् मणियों को मूल्य-रहित करार नहीं देते।

विशेष- १. राजा का कर्तव्य है कि वह अपने राज्य में स्थित विद्वानों को यथोचित सम्मान प्रदान करे, उनकी आवश्यकताओं का ध्यान रखें।

२. यदि कोई अज्ञानी हीरे को पत्थर समझ कर उसको उपेक्षापूर्वक कूड़े में फेंक देता है तो इसके लिए हीरा दोषी नहीं हो सकता।

३. यहाँ कवि से अभिप्राय अपने विषय के विशिष्ट विद्वान् एवं अभिव्यक्ति की सामर्थ्य सम्पन्न व्यक्ति से है, कविता करने वाले व्यक्ति से नहीं।

४. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग है—

सूर्याश्वैर्मसजास्तता: सगुरव:: शार्दूलविक्रीडितम्।

५. काव्यलिंग अलंकार का प्रयोग हुआ है— लक्षण—

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगमुदाहृतम्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. शास्त्रै: उपस्कृत: शास्त्रोपस्कृत:, तै: शब्दै: सुन्दर्य: गिर: येषां

२. शिष्येभ्य: प्रदेया: आगमा: येषां, ते

३. प्र + √दा + यत् = प्रदेया:

४. वसुधाया: अधिप:, वसुधाधिप: (षष्ठी तत्पुरुष)

५. अर्घ + तसिल् = अर्घत:

६. √पत् + णिच् + क्त = पातित + टाप् = पातिता (प्रथमा विभक्ति, बहुवचन)

७. स्यु: = लट् लकार के अर्थ में यहाँ विधिलिङ्ग लकार का प्रयोग है।

८. उप + √कृ + क्त (सुट् का आगम)

९. √कुत्स् + ण्यत् = कुत्स्या:

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा
ऽप्यर्थिभ्य: प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपा: कस्तै: सह स्पर्धते।।१७।।

अन्वय– हे! नृपा:, तान् प्रति मानम् उज्झत, येषाम् (समीपे) विद्याख्यम् अन्त:धनम् (अस्ति) यत् हर्तु: गोचरम् न याति, सर्वदा किम् अपि शम् पुष्णाति, अर्थिभ्य: प्रतिपाद्यमानम् अनिशम् हि पराम् वृद्धिम् प्राप्नोति, कल्पान्तेषु अपि निधनम् न प्रयाति, तै: सह क: स्पर्धते।

अनुवाद– हे राजाओं!, उन (लोगों) के प्रति अभिमान छोड़ दो, जिनके (पास) विद्या नामक गुप्त धन (है) जो चोर की इन्द्रियों का विषय नहीं होता, सदा ही किसी न किसी कल्याण को ही पुष्ट करता है, याचकों को दिया जाता हुआ (भी) निरन्तर अत्यधिक बढ़ता ही है, कल्पों के अंन्त में भी विनष्ट नहीं होता है, (भला) उनके साथ कौन स्पर्धा कर सकता है?

व्याख्या– राजाओं को सम्बोधित करते हुए कवि विद्वानों के प्रति विनम्र व्यवहार करने का सुझाव देते हुए कहता है कि हे राजाओं! तुम इस प्रकार के विद्वानों के प्रति अपने अहंकार का परित्याग कर दो, जिनके पास विद्या नामक अत्यन्त अद्भुत एवं गुप्त धन है, जो चोरों की इन्द्रियों का विषय्म भी नहीं होता अर्थात् चोर इस धन को चुराने में समर्थ नहीं होते। इस धन के द्वारा किसी न किसी प्रकार के कल्याणों की हीं प्राप्ति होती

है अर्थात् विद्या के द्वारा कभी भी अकल्याण की सम्भावना ही नहीं है। यह विद्या नामक गुप्त धन यदि याचकों को दिया जाए तो निरन्तर बढ़ता ही है। भले ही कल्प का अन्त क्यों न आ जाए, किन्तु इस धन के विनाश की कोई सम्भावना ही नहीं रहती। इस प्रकार के धनों से युक्त धनवानों के अर्थात् विद्वानों के साथ भला किसकी स्पर्धा करने की सामर्थ्य है। अत: हे राजाओं! तुम कभी भी इनके साथ बराबरी नहीं कर सकते हो। इसलिए इनके साथ अभिमान का त्याग कर विनम्रतापूर्वक व्यवहार करो।

विशेष– १. विद्वत्त्वं नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन। इस भावना को अभिव्यक्त करते हुए यहाँ विद्वान् की उत्कृष्टता प्रतिपादित की गई है।

२. विद्या रूपी धन की चार विशेषताओं का यहाँ उल्लेख किया गया है।

३. प्रस्तुत श्लोक में उपमेय विद्या रूपी धन की, उपमान सामान्य लोक प्रसिद्ध धन से उत्कृष्टता प्रतिपादित करने से व्यतिरेक अलंकार है, लक्षण इस प्रकार है—

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेक: स एव स:।।

४. राजाओं का कर्तव्य है कि वे विद्वानों का सम्मान करें।

५. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण—

सूर्याश्वैर्मसजास्तता: सगुरव: शार्दूलविक्रीडितम्।

६. ब्रह्मा के एक दिन को कल्प कहते है, जो मनुष्यों के ४३२०००००० वर्षों के बराबर होता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. हर्तु: + याति (विसर्ग संधि)

२. सर्वदा + **अपि** + अर्थिभ्य: (दीर्घ, अक: सवर्णे दीर्घ:, इकोयणचि)

३. कल्प + अन्तेषु + अपि (दीर्घ, यण्)

४. क: + तै: = (विसर्ग— विसर्जनीयस्य स:)

५. √हृ + तृच् (पुल्लिंग, षष्ठी विभक्ति, एकवचन)

६. गाव: (इन्द्रियाणि) चरन्ति अस्मिन् इति, गोचर:तम्

७. अर्थ + इनि (पुल्लिंग, चतुर्थ विभक्ति, बहुवचन)

८. प्रति + √पद् + **शानच्** (नपु., प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

९. √उज्झ् + सिप् (लोट् लकार, म.पु., एकवचन)

१०. प्रति के योग में तान् में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

११. ''सहयुक्तेऽप्रधाने'' सूत्र से सह के योग में तै: में तृतीया विभक्ति।

१२. √स्पर्ध् + तिप् (**आत्मनेपद**, लट्लकार (प्रथम पुरुष, एकवचन)

अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् माऽवमंस्था:,
तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि।

अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां,
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम्॥१८॥

अन्वय– अधिगत परमार्थान् पण्डितान् अवमंस्था: मा, तृणम् इव लघु लक्ष्मी: तान् न एव संरुणद्धि। अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानाम् वारणानाम् बिसतन्तु: वारणम् न भवति।

अनुवाद– परमतत्त्व प्राप्त किए हुए पण्डितों का अपमान मत (करो)। तिनके के समान तुच्छ लक्ष्मी उनको नहीं रोक सकती। ताजे मद की धाराओं से काले गण्डस्थलों वाले हाथियों को कमलनाल का तन्तु रोकने में (समर्थ) नहीं होता।

व्याख्या– जिन विद्वानों ने परमतत्त्व अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे ब्रह्मज्ञानियों का अपमान करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है, क्योंकि ये लोग सांसारिक ऐश्वर्य से ऊपर उठ गए है, सांसारिक वैभव अब उनके सामने तिनके के समान हैं। परमात्मतत्त्व में लीन उनके समक्ष इस संसार का राजा अथवा बड़े से बड़ा धनवान् कोई अर्थ नहीं रखता है। अत: ऐसे तत्त्व ज्ञानियों का अपमान करना उचित नहीं है।

इसी विषय को समझाते हुए कवि हाथी और कमलनाल के तन्तुओं का उदाहरण देते हुए कहता है कि जिसके गण्डस्थलों से मद बह रहा हो जो अत्यधिक शक्तिशाली हो, ऐसे पूर्णतया युवक हाथी को क्या आप कमलनाल के तन्तुओं के द्वारा बांधकर रोकने में समर्थ हो सकते हैं अर्थात् कभी नहीं।

इसलिए जिस प्रकार बिसतन्तुओं के द्वारा किसी मदमस्त हाथी को रोकना असम्भव एवं मूर्खतापूर्ण कार्य है। उसी प्रकार परमतत्त्व ज्ञानी पण्डितों को धन और ऐश्वर्य का लोभ दिखाकर अपने वश में करना असम्भव एवं मूर्खतापूर्ण कार्य है। अत: ऐसे विद्वानों का कभी अपमान नहीं करना चाहिए।

विशेष– १. परमतत्त्व को प्राप्त करने वाले तत्त्वज्ञानी के लिए यह सम्पूर्ण संसार ही नश्वर है। अत: त्याज्य है।

२. धन का लोभ सामान्य व्यक्ति को प्रभावित करता है, तत्त्वज्ञानी को नहीं।

३. यहाँ तत्त्वज्ञानी की उपमा मदमस्त हाथी से तथा लक्ष्मी की कमलनाल के नाजुक रेशों से दी गई है।

४. उत्कृष्ट श्रेणी के हाथी की यह विशेषता है कि उसकी कनपटियों से सुगन्धित द्रव पदार्थ बहता रहता है, जिसके कारण उसके गण्डस्थल काले रहते हैं। इसी को गजमद कहा जाता है।

५. यहाँ दो वाक्यों में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव होने के कारण दृष्टान्त अलंकार प्रयुक्त हुआ है, लक्षण इस प्रकार है— **दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुन: प्रतिबिम्बनम्॥**

६. प्रस्तुत श्लोक में मालिनी छन्द प्रयुक्त हुआ है, लक्षण—

ननमयययुतेयं मालिनी भौगिलोकैः।।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. अधिगतः परमार्थः यैः अधिगतपरमार्थाः तान् = अधिगतपरमार्थान्। अधि + √गम् + क्त = अधिगत

२. अव + √मन् + थास् (लुङ् लकार, म.पु., एकवचन)

३. सम् + √रुध् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन)

४. बिसानाम् तन्तुः = बिसतन्तुः (षष्ठी तत्पुरुष)

५. √वृ + णिच् + ल्युट् (नपु., प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

६. अभिनवाभिः मदलेखाभिः श्यामानि गण्डस्थलानि येषाम्, तेषाम् = अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानाम्।

७. न + एव = नैव (वृद्धिः -वृद्धिरेचि)

८. बिसतन्तुर्वारणम् = बिसतन्तुः + वारणम् (विसर्ग संधि)

अम्भोजिनीवनविहार विलासमेव,
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां,
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः।।१९।।

अन्वय– नितराम् कुपितः विधाता हंसस्य अम्भोजिनी वन-विहार-विलासम् एव हन्ति, तु असौ अस्य दुग्ध-जलभेदविधौ प्रसिद्धाम् वैदग्ध्यकीर्तिम् अपहर्तुम् समर्थः न (अस्ति)।

अनुवाद– अत्यधिक क्रोधित हुआ विधाता हंस के कमल वन में विहरण के आनन्द को ही नष्ट कर सकता है, किन्तु वह इसके दूध और जल को अलग-अलग करने सम्बन्धी प्रसिद्ध निपुणता विषयक यश को छीनने में समर्थ नहीं (है)।

व्याख्या– ब्रह्मा यदि किसी कारणवश अपने वाहन हंस पर अत्यधिक नाराज हो जाए तो अधिक से अधिक वह इसे कमल-वन में जाने से रोककर इसके सुख अथवा आनन्द को कम कर सकता है, किन्तु वह किसी भी स्थिति में हंस के पास जो दूध और पानी को अलग-अलग करनें की सामर्थ्य अथवा योग्यता है, उसे उससे नहीं छीन सकता है।

कहने का तात्पर्य है कि यदि कोई धनवान् स्वामी अथवा राजा अपने आश्रित सेवक के प्रति किसी कारणवश नाराज हो जाए तो अधिक से अधिक वह उसे अपनी नौकरी से हटा सकता है अथवा उसकी सम्पत्ति छीन कर उसे देश निकाला दे सकता है, किन्तु

किसी भी स्थिति में वह उस व्यक्ति की योग्यता क्षमता अथवा निपुणता, विद्या आदि को नहीं छीन सकता है। अपनी उस योग्यता के कारण तो वह जगत् में निश्चय ही प्रसिद्धि को प्राप्त करेगा।

विशेष– १. व्यक्ति के अपने गुणों के कारण प्राप्त कीर्ति स्थायी होती है, उसका कोई भी हनन करने में समर्थ नहीं है। अतः व्यक्ति को सदैव अपनी योग्यता में वृद्धि करनी चाहिए।

२. यहाँ ब्रह्मा से सामर्थ्यशाली राजा तथा हंस से लब्धकीर्ति विद्वान् के अर्थों की भी व्यंग्यार्थ से प्रतीति हो रही है।

३. यहाँ अप्रस्तुत विधाता और हंस के कथन द्वारा प्रस्तुत राजा और विद्वान् के अर्थ की अभिव्यक्ति होने का कारण अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

अप्रस्तुतस्य कथनात् प्रस्तुतं यत्र गम्यते।
अप्रस्तुतप्रशंसेयं सारुप्यादि नियन्त्रिता।।

४. प्रस्तुत श्लोक में वसन्ततिलका छन्द प्रयुक्त हुआ है— लक्षण इस प्रकार है—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

५. विद्वान् वस्तुतः राजा से भी बढ़कर है— 'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते', इसी भाव की इस श्लोक में अभिव्यक्ति हो रही है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. वि + √धा + तृच् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = विधाता
२. वि + √लस् + घञ् = विलासः
३. √ दुह् + क्त = दुग्ध
४. √ भिद् + घञ् = भेदः
५. वि + √दह् + क्त = विदग्ध + ष्यञ् = वैदग्ध्य
६. √कृत् + इन् = कीर्तिः
७. अप + √हृ + तुमुन् = अपहर्तुम्
८. कुपितः + विधाता = कुपितो विधाता (विसर्गः संधि-हशि च)
९. त्वस्य = तु + अस्य = (यण्, इकोयणचि)
१०. अम्भोजिनीनाम् वने विहारस्य विलासम् = अम्भोजिनीवनविहारविलासम्
११. दुग्धं च जलं च दुग्धजले (द्वन्द्व समास) तयोः भेदस्य विधौ दुग्धजलभेदविधौ

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः।

वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,

क्षीयन्ते खलु[1] भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्।।२०।।

अन्वय– पुरुषम् न केयूराणि भूषयन्ति, न चन्द्रोज्ज्वलाः हाराः, न स्नानम्, न विलेपनम्, न कुसुमम्, न अलंकृताः मूर्धजाः, या संस्कृताः धार्यते (एतादृशी) एका वाणी पुरुषम् समलंकरोति, खलु भूषणानि क्षीयन्ते, वाक् भूषणम् सततम् भूषणम् भवति।

अनुवाद– मनुष्य को न केयूर सुशोभित करते हैं, न चन्द्रमा के समान चमचमाते हार, न स्नान, न उबटन (आदि) न पुष्प (और) न (ही) सज्जित केश। जो परिष्कृत रूप में धारण की जाती है (ऐसी) एक मात्र वाणी ही पुरुष को सुशोभित करती है। निश्चय ही (सब प्रकार के) आभूषण नष्ट हो जाते हैं, वाणी रूपी आभूषण ही हमेशा (रहने वाला) आभूषण होता है।

व्याख्या– मनुष्य का एक स्वभाव है, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री वह दूसरों को सुन्दर दिखाई देना चाहता है, इसके लिए वह अनेकों उपचार करता है, किन्तु कवि उन सभी उपचारों की निरर्थकता प्रतिपादित करते हुए, एकमात्र संस्कारयुक्त विनम्र वाणी धारण करने का सुझाव देते हुए कहता है कि–

मनुष्य की सुन्दरता बाजूबन्द आदि धारण करने से नहीं बढ़ती, न ही चन्द्रमा के समान चमचमाते हुए सुन्दर हारों से ही उसकी शोभा बढ़ती है, इसके अतिरिक्त बहुत अच्छी प्रकार से रगड़-रगड़ कर स्नान करने से भी वह सुन्दर प्रतीत नहीं होता है। चन्दन, हल्दी आदि के उबटन का प्रयोग भी उसकी सुन्दरता में वृद्धि करने वाला नहीं होता। शरीर पर पुष्प धारण करने से, अपने सिर के बालों को अत्यधिक सजाने से भी वह सुन्दर नहीं लगता। यद्यपि इन सबसे सजने संवरने का व्यक्ति प्रायः प्रयास करता है, किन्तु ये सभी साधन उसे सुन्दर बनाने में अस्थायी रूप से ही सहायक होते हैं।

किन्तु संस्कारयुक्त वाणी को धारण करने वाला व्यक्ति ही वस्तुतः सदैव सुशोभित होता है। सुन्दर लगता है।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक में संस्कारित वाणी को ही व्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ एवं हमेशा रहने वाला आभूषण बताया गया है।

२. श्लोक के चतुर्थ चरण में प्रयुक्त 'खलु' के स्थान पर 'अखिल' पाठभेद भी मिलता है जिसका अर्थ होगा "सभी आभूषण"।

३. उपमान हारादि की अपेक्षा उपमेय संस्कारित वाणी को श्रेष्ठ बताया गया है।अतः व्यतिरेक अलंकार, लक्षण इस प्रकार है–

---

१. अखिल

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।।

४. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है— लक्षण

सूर्याश्वैर्मसजा स्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।।

५. यहाँ संस्कारित वाणी से अभिप्राय व्याकरण आदि की दृष्टि से शुद्ध, शिष्ट एवं विनम्रता से युक्त वाणी से है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. चन्द्र इव उज्ज्वलाः (कर्मधारय) चन्द्र + उज्ज्वलाः = चन्द्रोज्ज्वलाः (गुण, आद्गुणः)

२. न + अलंकृता = नालंकृता (दीर्घ, अकः सवर्णे दीर्घः)

३. वाणी + एका = वाण्येका (यण्, इकोयणचि)

४. वाक् + भूषणम् = वाग्भूषणम् (व्यंजन, झलांजशोऽन्ते)

५. वि + √लिप् + ल्युट् = विलेपनम् (नपु., प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

६. मूर्धनि जायन्ते इति मूर्धजाः, मूर्धन् + √जन् + ड (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन)

७. सम् + √कृ + क्त + टाप् = संस्कृता

८. वाक् एव भूषणम्, वाग्भूषणम् (कर्मधारय)

९. √भूष् + ल्युट् = भूषणम् (नपु., प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

१०. अलम् + √कृ + क्त = अलंकृताः (प्रथमा विभक्ति, बहुवचन)

११. √भूष् + णिच् + झि = भूषयन्ति (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन)

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं देवतं,[१]
विद्या राजसु पूजिता न हि धनं विद्याविहीनः पशुः।।२१।।

अन्वय– विद्या नाम नरस्य अधिकम् रूपम्, प्रच्छन्न गुप्तम् धनम् (अस्ति)। विद्या भोगकरी, यशः सुखकरी, विद्या गुरूणाम् गुरुः (वर्तते)। विदेशगमने विद्या, बन्धुजनः विद्या परम् देवतम्, विद्या (एव) राजसु पूजिता, न हि धनम्। विद्याविहीनः पशुः (अस्ति)।

अनुवाद– विद्या वस्तुतः मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य (है), छिपा हुआ गुप्त धन (है)। विद्या भोग देने वाली, यश और सुख प्रदान करने वाली (है)। विद्या गुरुओं का गुरु (है)। विदेश जाने पर विद्या आत्मीय बन्धु है, विद्या सबसे बड़ा देवता है। विद्या

---

१. परा देवता

(ही) राजाओं में पूजी जाती है, न कि धन। (वास्तव में) विद्या से हीन (व्यक्ति) पशु (ही है)।

व्याख्या– विद्या की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है कि विद्या व्यक्ति का सबसे बड़ा सौन्दर्य है, वस्तुतः सुन्दरतम वही व्यक्ति है जो सर्वाधिक विद्वान् है। इसी प्रकार विद्या सर्वाधिक गोपनीय छिपा हुआ खजाना है। कौन व्यक्ति कितना ज्ञानवान् है, इसका पता तभी चलता है, जब वह बोलता है और उसका अन्य कोई मापदण्ड नहीं होता। विद्या मनुष्य को धन, ऐश्वर्य एवं भोगों को प्रदान करती है, विद्या के बल पर व्यक्ति बड़े से बड़े पद पर पहुँच जाता है, अधिक से अधिक धन कमाने में समर्थ होता है। इसी प्रकार विद्या के द्वारा व्यक्ति यशस्वी होता है वह कितना विद्वान् है, इस रूप में उसकी कीर्ति दिग्दिगन्त में फैलती है। विद्या के माध्यम से व्यक्ति सुखों को प्राप्त करता है।

वस्तुतः विद्या गुरु से भी ऊपर अर्थात् श्रेष्ठ है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति 'गुरु' विद्या के द्वारा ही बनता है। यदि मनुष्य को विदेश में जाना पड़े तो विद्या उसकी सर्वाधिक आत्मीय भाई के समान हितकारिणी होती है। इसी प्रकार विद्या सभी देवताओं में सर्वोच्च देवता है।

राजा भी विद्वानों का ही सम्मान करते हैं। हमेशा देखने में आया है कि विद्वान् का राजा लोग अपने सिंहासन से उतरकर भी सम्मान करते हैं, धनवान् का नहीं और अन्त में कवि कहता है कि यदि कोई व्यक्ति विद्या से रहित है तो वह मनुष्य कहलाने का ही अधिकारी नहीं है, वह तो वस्तुतः पशु ही है।

विशेष– १. इस संसार में विद्या को ही सर्वोच्च बताया गया है। विद्या के द्वारा व्यक्ति यहाँ सब कुछ प्राप्त कर सकता है, यहाँ तक कि परमात्मा को प्राप्त करने में भी विद्या ही सहायक होती हैं।

२. विद्या रूपी धन व्यक्ति के मस्तिष्क में रहता है, अतः उसकी थाह पाना एकदम असम्भव है। अतः इसे यह प्रच्छन्न और गुप्त बताया है।

३. विद्या के द्वारा व्यक्ति मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है, इसीलिए इसे सबसे बड़ा देवता बताया गया है।

४. विद्या का अनेक रूपों में वर्णन करने के कारण मालारूपक अलंकार – लक्षण इस प्रकार है—

श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत्।

साङ्गमेतत् निरङ्गन्तु शुद्धं माला तु पूर्ववत्।।

५. शार्दूलविक्रीडित छन्द, लक्षण पूर्व श्लोक में उल्लिखित है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. प्रच्छन्नं च गुप्तं च तत् धनम् (द्वन्द्व समास) प्र + √छद् + क्त। √गुप् + क्त।

२. भोगं करोति इति √भुज् + घञ् = भोग + √कृ + अप् + डीप् = भोगकरी

३. विद्यया विहीनः (पञ्चमी तत्पुरुष) = विद्याविहीनः
४. वि + √हा + क्त = विहीनः
५. √पूज् + क्त + टाप् = पूजिता
६. सुख + √कृ + अप् + ङीप् = सुखकरी
७. बन्धुजनः + विदेश गमने (विसर्ग, हशि च)

क्षान्तिश्चेत् कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद् देहिनाम्,
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद् दिव्यौषधैः किं फलम्।
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि,
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम्॥२२॥

अन्वय– देहिनाम्, चेत् क्षान्तिः कवचेन किम्, चेत् क्रोधः अस्ति, अरिभिः किम्, चेत् ज्ञातिः, अनलेन किम्, यदि सुहृद् दिव्यौषधैः किम् फलम्, यदि दुर्जनाः, सर्पैः किम्, यदि अनवद्या विद्या, धनैः किमु चेत् व्रीडा भूषणैः किमु, यदि सुकविता अस्ति, राज्येन किम्।

अनुवाद– देहधारियों के (पास) यदि क्षमा है (तो) कवच से क्या (लाभ), यदि क्रोध है (तो) शत्रुओं से क्या, यदि सम्बन्धी हैं तो अग्नि से क्या, यदि मित्र है तो उत्तम औषधियों से क्या लाभ, यदि दुर्जन हैं तो सर्पों से क्या, यदि प्रशंसनीय विद्या है तो धनों से क्या और यदि लज्जा है तो आभूषणों से क्या (लाभ) और यदि सुन्दर कविता है तो राज्य से क्या (लाभ)?

व्याख्या– यदि व्यक्ति के पास क्षमा करने का गुण विद्यमान है तो उसे किसी भी कवच को धारण करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसकी शत्रुता किसी से होगी ही नहीं, किसी भी व्यक्ति के गलती करने पर वह उसे क्षमा कर देगा।

इसी प्रकार यदि व्यक्ति क्रोधी है तो उसे शत्रुओं को अपने साथ रखने की आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि क्रोध ही व्यक्ति का सबसे बड़ा शत्रु होता है, इसके कारण व्यक्ति अपने मित्रों को भी शत्रु बना लेता है।

यदि मनुष्य के पास उसके सम्बन्धी रहते हैं तो उसे आग की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, क्योंकि सम्बन्धी लोग आपस में आग लगाने में निपुण होते हैं। आग से अभिप्राय यहाँ झगड़े से है।

और यदि व्यक्ति के पास उसके श्रेष्ठ मित्र हैं तो निश्चय ही उसे श्रेष्ठ औषधियों को इकट्ठा करने में अपना समय नहीं गँवाना चाहिए। मित्र, कष्ट में, आपत्ति पड़ने पर औषधि का ही कार्य करता है।

यदि व्यक्ति दुर्जनों से घिरा है तो उसे सर्पो की कोई आवश्यकता नहीं है। दुर्जन सर्पों के समान ही उसके लिए हानिकर सिद्ध होगें और उसके विनाश का कारण बनेंगे।

इसके अतिरिक्त यदि व्यक्ति के पास प्रशंसनीय विद्या है तो उसे धनसंग्रह करने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि कहा भी है– 'विद्या धनं सर्वधनं प्रधानम्।' इस संसार में लज्जा सबसे बड़ा आभूषण है, यदि व्यक्ति के पास लज्जा है तो उसे किसी भी आभूषण को धारण करने की आवश्यकता नहीं हैं।

यदि व्यक्ति श्रेष्ठ कविता बनाने में समर्थ है तो उसे किसी साम्राज्य की आवश्यकता नहीं है। श्रेष्ठ कवि होना किसी भी राज्य की प्राप्ति से भी बढ़कर है।

विशेष- १. यहाँ देहधारियों से अभिप्राय मनुष्यों से है, चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष।

२. प्रस्तुत श्लोक में क्षमा सर्वोत्तम कवच, क्रोध सबसे बड़ा शत्रु, सम्बन्धी अग्नि स्वरूप, मित्र सर्वोत्तम औषधि, दुर्जन भयानक सर्प, विद्या सर्वोत्तम धन, लज्जा श्रेष्ठ आभूषण, श्रेष्ठ कवित्व शक्ति राज्यप्राप्ति स्वरूप प्रतिपादित किए गए हैं।

३. यदि व्यक्ति उक्त श्लोक को व्यवहार में उतार ले तो उसे कभी किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होगी।

४. प्रस्तुत श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है– लक्षण पूर्व श्लोक में लिखा हुआ है।

५. अर्थापत्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

१. देह + इनि = देहिन् (पुल्लिंग, षष्ठी विभक्ति, बहुवचन)

२. √क्षम् + क्तिन् = क्षान्ति (प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

३. √ज्ञा + क्तिन् = ज्ञातिः (प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

४. दिव्य + ओषधैः = दिव्यौषधैः (वृद्धि, वृद्धिरेचि)

५. किम् शब्द से यहाँ फल, लाभ अथवा प्रयोजन अर्थ लेना चाहिए।

६. किम् के अन्त में प्रयुक्त उ को समुच्चयवाची मानना अधिक उपयुक्त है।

७. अनवद्या– न वद्या इति अवद्या न अवद्या इति, (नञ् समास)

दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने[1] शाठ्यं सदा दुर्जने,
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम्।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता,
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः॥२३॥

---

१. परजने

अन्वय– स्वजने दाक्षिण्यम्, परिजने दया, दुर्जने सदा शाठ्यम् साधुजने प्रीतिः, नृपजने नयः, विद्वज्जनेषु आर्जवम्, शत्रुजने शौर्यम्, गुरुजने क्षमा, नारीजने धूर्तता च ये पुरुषाः एवं कलासु कुशलाः तेषु एव लोकस्थितिः (वर्तते)।

अनुवाद– बंधुजनों में उदारता, सेवकों पर दया, दुष्टों के प्रति सदा शठता, सज्जनों के प्रति प्रेम, राजा के प्रति नीति, विद्वज्जनों के प्रति सरलता, शत्रुओं के प्रति वीरता, गुरुओं के प्रति क्षमा और नारियों के प्रति धूर्तता (का आचरण) जो पुरुष इस प्रकार कलाओं में कुशल हैं, उनमें ही लोकमर्यादा (बनी रहती है)।

व्याख्या– यदि मनुष्य इस संसार में सफल होना चाहता है तो उसे अपना व्यवहार भिन्न-भिन्न लोगों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार करना चाहिए, पुनः किसके साथ कैसा व्यवहार करे। इसी का कथन करते हुए कवि कहता है कि— व्यक्ति को अपने बन्धुओं, आत्मीयों के प्रति अत्यन्त उदारतापूर्वक व्यवहार करना चाहिए, अपने सेवकों के प्रति दयाभाव रखते हुए आचरण करना चाहिए क्योंकि क्रूरता के आचरण से सेवकों के विरोधी होने की सम्भावना रहती है।

इसी प्रकार दुर्जनों के प्रति दुष्टतापूर्वक आचरण से ही वे नियन्त्रित रहते हैं, सज्जनों के प्रति प्रेम पूर्ण व्यवहार ही उचित है। जब भी राजा के साथ व्यवहार करना हो तो नीति के अनुसार ही करना चाहिए, विद्वानों के साथ कभी भी व्यक्ति को कुटिल आचरण नहीं करना चाहिए, अपितु सरलतापूर्वक ही बर्तना चाहिए।

शत्रुओं के साथ वीरतापूर्वक व्यवहार ही व्यक्ति को सामर्थ्यशाली बनाता है, जो हमसे विद्या में बढ़े हुए हैं अथवा आयु में बड़े हैं, उन गुरुओं के प्रति, सदैव उनके द्वारा नाराज होने पर भी क्रोधित न होते हुए क्षमापूर्वक आचरण करना चाहिए। स्त्रियों के साथ सरलता का व्यवहार व्यक्ति के नाश का कारण बनता है। अतः उनके साथ धूर्तता, अत्यन्त चालाकी-पूर्वक व्यवहार करना चाहिए।

अन्त में कवि कहता है कि इस संसार में जो लोग इस प्रकार व्यवहार करने की कला में निपुण हैं, उनके कारण ही समाज में संतुलन रूप मर्यादा बनी रहती है, अन्यथा अव्यवस्था की पूरी-पूरी सम्भावना है।

विशेष– १. व्यक्ति को इस संसार में किसके साथ कैसा व्यवहार करना उचित है, इसका अत्यन्त सुन्दर चित्रण प्रस्तुत श्लोक में किया गया है।

२. स्त्रियों के प्रति धूर्तता के आचरण की बात सम्भवतः कवि ने अपनी जीवन में कटु अनुभव के कारण कही है।

३. दुर्जनों के प्रति शठता की बात "शठे शाठ्यं समाचरेत्" में भी कही गई है।

४. लोकव्यवहारकुशल बनने के लिए, जीवन में सफल होने के लिए, श्लोक के अनुसार आचरण अत्यावश्यक है।

५. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है।

६ परिजन का अर्थ सेवक और सम्बन्धी दोनों किया जा सकता है।

७. काव्यलिंग अलंकार

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. दक्षिण + ष्यञ् (नपु. प्र.वि., ए.व.) दाक्षिण्यम्

२. शठ + ष्यञ् (नपु., प्र.वि., ए.व.) शाठ्यम्

३. √प्रीञ् + क्तिन् (प्र.वि., ए.व.) प्रीतिः

४. √नी + अच् (पु., प्र. वि., ए.व.) नयः

५. ऋ+जु + अण् (नपु., प्र. वि., ए.व.) आर्जवम्

६. शूर + ष्यञ् (नपु., प्र. वि., ए.व.) शौर्यम्

७. धूर्त + तल् + टाप् = धूर्तता

८. लोकानाम् स्थितिः = लोकस्थितिः (षष्ठी तत्पुरुष)

९. √स्था + क्तिन् (स्त्री., प्र. वि., ए.व.) स्थितिः

१०. विद्वत् + जनेषु + आर्जवम् (व्यञ्जन संधि, यण्, संधि इकोयणचि)

११. च + एवम् (वृद्धि - वृद्धिरेचि)

१२. कुशलाः + तेषु + एव (विसर्गः यण् - इकोयणचि)

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं,
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।।२४।।

अन्वय– (सत्संगतिः) धियः जाड्यम् हरति, वाचि सत्यम् सिञ्चति, मानोन्नतिम् दिशति, पापम् अपाकरोति, चेतः प्रसादयति, दिक्षु कीर्तिम् तनोति, कथय, सत्संगति पुंसाम् किम् न करोति।

अनुवाद– (सत्संगति मनुष्य की) बुद्धि की मन्दता का हरण करती है, वाणी में सत्य का संचार करती है, सम्मान और उन्नति को बढ़ाती है, पाप को दूर करती है, मन को प्रसन्न करती है, दिशाओं में कीर्ति फैलाती है, कहो तो सत्संगति मनुष्य का क्या नहीं करती ?

व्याख्या– सज्जनों की संगति से व्यक्ति का अनेक प्रकार से उपकार होता है, इसी का कथन करते हुए कवि कहता है कि– सत्संगति से बुद्धि की अज्ञानता, जड़ता दूर होती है, वाणी सज्जनों के साथ रहकर उनका अनुकरण करते हुए सदैव सत्य भाषण ही करती है। जब व्यक्ति सज्जनों के साथ रहता है तो उसका समाज में सम्मान व प्रतिष्ठा बढ़ती है, जिससे वह उन्नति को प्राप्त करता है।

सज्जनों के साथ रहने से व्यक्ति पापपूर्ण कार्यों से दूर ही रहता है। अनुचित कार्य न करने तथा अच्छे-अच्छे कार्यों के करने से मनुष्य का मन प्रसन्न रहता है, अच्छे-अच्छे काम करने से संसार में व्यक्ति का नाम होता है, चारों दिशाओं में उसका यश फैलता है।

इस प्रकार मुझे जरा बताओ तो सही सत्संगति से मनुष्य का क्या भला नहीं होता अर्थात् सज्जन लोगों के साथ रहने में व्यक्ति को लाभ ही लाभ है, हानि तो एक भी दिखाई नहीं देती है।

विशेष– १. सत्संगति की अत्यन्त सुन्दर शब्दों में, तर्क पद्धति के द्वारा प्रशंसा की गई है।

२. यदि व्यक्ति को इस संसार में अपना जीवन सफल बनाना है तो उसे सज्जनों की संगति ही करनी चाहिए।

३. प्रस्तुत श्लोक में सत्संगति की प्रशंसा में अनेक हेतुओं का कथन किया गया है। अतः समुच्चय अलंकार लक्षण इस प्रकार है—

तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत्।

समुच्चयोऽसौ।। (काव्य प्रकाश)

४. वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है—

उक्ता वसन्ततिलका तभजाजगौगः।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. धी + ङस् (षष्ठी वि., ए.व.)

२. मानस्य उन्नतिम्, मानोन्नतिम् (षष्ठी तत्पुरुष) √मन् + घञ् = मानः, उत् + √नम् + क्तिन् = उन्नतिः

३. √दिश् + तिप् = दिशति (लट् लकार, प्र. पु., ए.व.)

४. सताम् संगतिः = सत्संगति (षष्ठी तत्पुरुष) सत् + √गम् + क्तिन् (प्र.वि., ए.व.)

५. धियः हरति = धियोहरति (विसर्ग - हशि च)

६. √तनु - (विस्तरणे) + तिप् = तनोति (लट् लकार, प्र. पु., ए.व.)

७. जडस्य भावः, जाड्यम्, जड + ष्यञ्

८. प्र + √सद् + णिच् (लट् लकार, प्र. पु., ए.व.) प्रसादयति

९. अप + च्वि + √कृ + तिप् (लट् लकार, प्र. पु., ए.व.) अपाकरोति

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।

नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।।२५।।

अन्वय– ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः जयन्ति, येषाम् यशःकाये जरा मरणजम् भयम् न अस्ति।

अनुवाद- वे पुण्यात्मा, रस-सिद्ध, कविश्रेष्ठ सर्वोत्कृष्ट हैं। जिनके यश रूपी शरीर में वृद्धावस्था और मरण से उत्पन्न भय नहीं है।

व्याख्या- सभी प्रकार के काव्यरसों से युक्त रचना कर्म में कुशल, कवियों में अग्रणी वे पुण्यशाली महाकवि ही वस्तुतः सर्वोत्कृष्ट एवं प्रशंसा के योग्य हैं, जिनके नश्वर शरीर के विनाश होने के बाद भी यश रूपी शरीर की स्थिति बनी रहती है और इस यशः शरीर की एक विशेषता है कि यह शरीर न तो कभी बूढ़ा ही होता है और न ही इस का कभी मरण ही होता है।

कहने का तात्पर्य है कि उत्कृष्ट काव्यरचना में कुशल महाकवि वास्तव में पुण्यात्मा है अन्यथा काव्यशक्ति इस संसार में जन्म लेने वाले सभी लोगों को प्राप्त नहीं होती है और ऐसे अँगुलीगण्य महाकवि पञ्चतत्त्वों से बने इस नश्वर शरीर के नष्ट होने पर भी अपनी कीर्ति रूपी शरीर में सदैव युवावस्था में विद्यमान होकर जीवित रहते हैं।

विशेष- १. प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'जयति' पद सर्वोत्कृष्टता का प्रतिपादन करने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

२. यशः काये में रूपक अलंकार का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है—

तद् रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

३. पुण्यात्मा ही रससिद्ध महाकवि होता है। सभी को इस सौभाग्य की प्राप्ति नहीं होती।

४. यशः शरीर सदैव अमर और जरारहित रहता है। आज भी कालिदास जैसे महाकवि यशः शरीर से हमारे मध्य विराजमान हैं।

५. प्रस्तुत श्लोक का एक अन्य अर्थ वैद्य पक्ष में भी हो सकता है जो इस प्रकार है— "वे पुण्यात्मा रस रचना में निपुण वैद्यराज सर्वोत्कृष्ट हैं। जिनके शरीर में वृद्धावस्था और मृत्यु से उत्पन्न भय नहीं होते हैं।" इसी कारण—

६. प्रस्तुत श्लोक में समासोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है—लक्षण इस प्रकार है—

यत्रोक्ताद् गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समान विशेषणः।

सा समासोक्तिरुदिता संक्षेपार्थतया बुधैः।। (अग्निपुराण)

७. श्लोक का द्वितीय चरण प्रथम चरण के कथन को पुष्ट करने के लिए हेतु रूप में प्रयुक्त होने से काव्यलिंग अलंकार—

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्।। (साहित्यदर्पण)

८. प्रस्तुत श्लोक में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है—

श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।

द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः।।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √जि (जये) + झि = जयन्ति (लट् लकार, प्र. पु., बहु. व.)
२. सुकृत + इनि = सुकृतिन् (पु., प्र. वि., बहु. व.)
३. रसेषु सिद्धाः, रससिद्धाः (सप्तमी तत्पुरुष)
४. कविषु ईश्वराः, कवीनाम् ईश्वराः (षष्ठी या सप्तमी तत्पुरुष)
५. यशः एव कायः , यशः कायः, तस्मिन् यशः काये
६. √भी + अच् (नपु., प्र. वि., ए.व.)
७. जरा च मरणम् च जरामरणे, ताभ्याम् जायते इति जरामरणजम्
८. न + अस्ति = नास्ति (दीर्घ, अकः सवर्णे दीर्घः)
९. कवि + ईश्वराः = कवीश्वराः (दीर्घ, अकः सवर्णे दीर्घः)

को लाभो गुणिसङ्गमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः,
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः।
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा काऽनुव्रता किं धनं,
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम्॥२६॥

अन्वय– लाभः कः ? गुणिसङ्गमः, असुखम् किम् ? प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः, हानिः का ? समयच्युतिः, निपुणता का ? धर्मतत्त्वे रतिः, शूरः कः ? विजितेन्द्रियः, प्रियतमा का ? अनुव्रता, दानम् किम् ? विद्या, सुखम् किम् ? अप्रवासगमनम्, राज्यम् किम् ? आज्ञाफलम्।

अनुवाद– लाभ क्या (है) ? गुणवानों की सङ्गति। दुःख क्या (है) ? मूर्खों की सङ्गति। हानि क्या (है) ? अवसर खो देना। निपुणता क्या (है) ? धर्मतत्त्व में अनुराग। शूर कौन (है) ? इन्द्रियों को जीतने वाला। प्रियतमा कौन (है) ? अनुकूल आचरण करने वाली (स्त्री)। धन क्या (है) ? विद्या। सुख क्या (है) ? देश से बाहर न जाना। राज्य क्या (है) ? आज्ञा का पालन।

व्याख्या– कवि सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि की भिन्न, किन्तु अत्यन्त सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहता है कि–

इस संसार में यदि व्यक्तियों को गुणवान् लोगों का सान्निध्य प्राप्त हो सके तो इसे सबसे बड़ा लाभ मानना चाहिए। इसी प्रकार यदि मनुष्य को किसी भी कारण मूर्खों के साथ रहना पड़ता है तो यह उसके लिए सर्वाधिक कष्ट अथवा दुःख का विषय है।

ठीक इसी प्रकार यदि व्यक्ति किसी भी कार्य को करने का अवसर खो देता है तो यह उसके लिए सबसे बड़ी हानि है और यदि मनुष्य का धर्म के प्रति प्रेम है तो यह उसकी सबसे बड़ी निपुणता मानी जाएगी। जिस व्यक्ति ने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया वह सबसे बड़ा शूरवीर कहलाने का अधिकारी है।

इस प्रकार ही यदि कोई स्त्री पति के अथवा अपने प्रेमी के मन, वचन और कर्म से अनुकूल आचरण करने वाली है तो वही वस्तुतः प्रियतमा कहलाने की अधिकारिणी है। इसी प्रकार इस संसार में सबसे बड़ा धन, विद्या ही है और यदि किसी व्यक्ति को किसी भी कारण अपने देश, अपनी मातृभूमि को न छोड़ना पड़े वही सबसे बड़ा सुख है और यदि व्यक्ति की सर्वत्र आज्ञा प्रभावशाली होती है तो समझना चाहिए कि उसके पास सबसे बड़ा, विशाल राज्य है।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक में लाभादि को आध्यात्मिक दृष्टि से अवलोकन किया गया है।

२. कवि की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है।

३. विद्या को अन्यत्र भी सबसे बड़ा धन बताया गया है—

विद्या धनं सर्वधनं प्रधानम्।

४. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण—

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √लभ् + घञ् = लाभः (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

२. गुणिभिः सह सङ्गमः, गुणिसङ्गमः

३. न सुखम् इति असुखम् (नञ् समास)

४. प्राज्ञेभ्यः इतरैः, प्राज्ञेतरैः

५. प्र + √ज्ञा + क = प्रज्ञः। प्रज्ञ + अण् = प्राज्ञः

६. √हा + क्तिन् = हानिः (स्त्रीलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

७. समयात् च्युतिः = समयच्युतिः (पञ्चमी तत्पुरुष)

८. √रम् + क्तिन् = रतिः (स्त्रीलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

९. विजितानि इन्द्रियाणि येन सः (बहुव्रीहि) विजितेन्द्रियः

१०. आज्ञा एव फलम् = आज्ञाफलम् (कर्मधारय)

११. सम् + √गम् + क्तिन् = सङ्गतिः (स्त्रीलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन

मानशौर्य पद्धतिः

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि।
मत्तेभेन्द्रविभिन्न कुम्भकवलग्रासैकबद्धस्पृहः,
किं जीर्णं तृष्मत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी।।२७।।

अन्वय– मत्तेभेन्द्रविभिन्न कुम्भकवलग्रासैकबद्धस्पृहः, मानमहताम् अग्रेसरः केसरी, क्षुतक्षामः अपि, जरा- कृशः अपि, शिथिलप्रायः अपि, कष्टाम् दशाम् आपन्नः अपि, विपन्नदीधितिः अपि, प्राणेषु, नश्यत्सु अपि किम् जीर्णम् तृणम् अत्ति।

अनुवाद– मदमस्त गजराज के विदीर्ण मस्तक के कौर को खाने में बंधी हुई है एक मात्र चाह जिसकी, स्वाभिमानियों में अग्रणी केसरी, भूख से कमजोर होने पर भी, बुढ़ापे से दुर्बल होने पर भी, पूरी तरह ढ़ीला होने पर भी, कष्टकारी दशा में पड़ने पर भी कान्ति के नष्ट होने पर भी (यहाँ तक कि) प्राणों के नष्ट होने पर भी क्या सूखे तिनके खाता है।

व्याख्या– स्वाभिमानियों में सदैव आगे रहने वाला केसरी शेर (गर्दन पर बड़े-बड़े आयालों वाला) भले ही भूख के कारण कितना भी कमजोर क्यों न हो जाए, वृद्धावस्था के कारण उठने लायक, शिकार करने योग्य भी क्यों न रहे, किसी भी रोगादि के कारण उसके अंग-अंग ढ़ीले क्यों न पड़ जाएँ। कितनी भी कष्टकारी स्थिति में क्यों न फंस जाए। उसकी कान्ति एवं तेज पूर्णरूप से समाप्त क्यों न हो जाए। यहाँ तक कि उसके प्राण ही गले तक क्यों न आ जाएँ अर्थात् प्राण निकलने की नौबत भी क्यों न आ जाए। क्या अत्यधिक शक्तिशाली, जिसके गण्डस्थलों से मद बह रहा है ऐसे हाथी के विशाल मस्तक पर वीरतापूर्वक आक्रमण करके नोचे गए मांस के टुकड़े को खाने का इच्छुक केसरी शेर, सूखे तिनकों को खाकर अपनी भूख शान्त करता है अर्थात् नहीं।

ठीक इसी प्रकार स्वयं के परिश्रम, योग्यता एवं क्षमता से अर्जन करके खाने वाला स्वाभिमानी व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुरूप वस्तु को ही खाता है, किसी की कृपा से अपने स्वाभिमान के विपरीत आचरण नहीं करता है, भले ही भूख से कमजोर क्यों न हो जाए, उसके अंग-अंग ढ़ीले क्यों न हो जाएँ, यहाँ तक कि प्राण ही क्यों न निकल जाएँ।

विशेष– १. यहाँ केसरी स्वाभिमानी व्यक्ति का प्रतीत है, जो किसी भी परिस्थिति में स्वाभिमान की रक्षा करता है।

२. केसरी का यह स्वभाव है कि वह किसी अन्य द्वारा मारे हुए अथवा छोटे-मोटे प्राणियों के मांस से अपनी क्षुधा शान्त नहीं करता, अपितु वह तो प्रत्येक परिस्थिति में शक्तिशाली हाथी पर आक्रमण करके अपना शिकार करता है।

३. केसरी शेर के गर्दन पर बड़े-बड़े बाल होते हैं, जिन्हें आयाल कहते हैं।

४. उत्कृष्ट श्रेणी के शक्तिशाली हाथी की कनपटियों से सुगन्धित द्रव बहता है, जिसे मद कहते हैं।

५. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण—

सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. क्षुधया क्षामः (तृतीया तत्पुरुष) क्षुत्क्षामः + अपि = क्षुत्क्षामोऽपि

२. जरया कृशः (तृतीया तत्पुरुष) जराकृशः + अपि = जराकृशोऽपि

३. आ + √पद् + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) आपन्नः

४. विपन्ना दीधितिः यस्य सः (बहुव्रीहि) विपन्नदीधितिः। वि + √पद् + क्त = विपन्नः

५. √मद् + क्त = मत्तः

६. मत्त + इभ + इन्द्र (गुण, आद् गुणः) ग्रास + एक बद्धः (वृद्धि, वृद्धिरेचि)

७. वि + √भिद् + क्त = विभिन्नः

८. √ग्रस् + घञ् = ग्रासः

९. मानम् एव महत् येषाम् तेषाम् = मानमहताम्

१०. अग्रेसरति इति अग्रेसरः

११. केसर + इनि = केसरिन् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) केसरी

१२. √जृ + क्त (नपु. प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

१३. √अद् + तिप् = अत्ति (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन)

१४. √स्पृह + क्त = स्पृहः

स्वल्पस्नायुवसावशेष मलिनं[१] निर्मांसमपि अस्थिकं[२],
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तत्तस्य क्षुधाशान्तये।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं,
सर्वः कृच्छ्र गतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम्।।२८।।

अन्वय- श्वा स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनम् निर्मांसम् अपि अस्थिकम् लब्ध्वा परितोषम् एति, तत् तु तस्य क्षुधाशान्तये न। सिंहः अङ्कम् आगतम् अपि जम्बुकम् त्यक्त्वा द्विपम् हन्तिं। कृच्छगतः अपि सर्वः जनः सत्वानुरूपम् फलम् वाञ्छति।

अनुवाद- कुत्ता, थोडे से स्नायु और चरबी के बचे हुए (भाग से) मलिन, मांस रहित भी छोटे से हड्डी के टुकड़े को प्राप्त करके संतुष्ट हो जाता है, किन्तु वह (टुकड़ा) उसकी भूख को शान्त करने के लिए नहीं होता (इसके विपरीत) शेर गोद में आए हुए भी गीदड़ को छोड़कर, हाथी को मारता है। विपत्ति में पड़े हुए भी सभी लोग (अपने) स्वाभिमान के अनुरूप ही फल चाहते हैं।

व्याख्या- इस संसार में दो प्रकार के लोग होते हैं— प्रथम वे जो कुछ तुच्छ भी प्राप्त करके संतुष्ट होकर बैठ जाते हैं। इसके विपरीत दूसरे वे जो अपनी शक्ति एवं स्वभाव के अनुरूप ही वस्तु को प्राप्त करने पर संतुष्ट होते हैं, भले ही उसके लिए उन्हें कितना ही परिश्रम क्यों न करना पड़े।

---

१. स्वल्पं स्नायुवसावसेक (थोड़े से स्नायु और चर्बी से लिपटे)

२. अस्थिगोः (गाय की हड्डी)

इसी बात को कवि कुत्ते और शेर का उदाहरण देकर समझाता है— कुत्ता ऐसे छोटे से हड्डी के टुकड़े को पाने पर ही संतुष्ट हो जाता है भले ही उसमें जरा भी मांस नहीं हो, कितना भी गंदा क्यों न हो तथा स्नायु और चरबी लेशमात्र ही क्यों न लगा हो, हालाँकि यह टुकड़ा उसकी भूख को शान्त करने में समर्थ नहीं होता। इस प्रकार का स्वभाव, स्वाभिमान रहित और आलसी व्यक्ति का होता है।

इसके विपरीत गीदड़ शेर की गोद में स्वयं ही आकर क्यों न बैठ जाए और उससे उसे खाने की स्वयं ही प्रार्थना क्यों न करे। वह उसे त्याग कर अपने स्वभाव एवं स्वाभिमान के अनुरूप हाथी को मारकर ही अपनी भूख को शान्त करता है। भले ही इसमें वह स्वयं भी घायल क्यों न हो जाए, उसे कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े।

इस प्रकार इस संसार में लोग अपने स्वभाव और स्वाभिमान के अनुरूप ही वस्तु को प्राप्त करना चाहते हैं।

विशेष– १. यहाँ शेर स्वाभिमानी एवं परिश्रमी व्यक्ति का और कुत्ता आलसी तथा स्वाभिमान रहित क्षुद्र व्यक्ति का प्रतीक है।

२. कुत्ता हड्डी के टुकड़े को चबाने में मांस रहित होने पर भी अपने ही दांतों से निकले खून को पीकर अत्यन्त आनन्दित होता है। वह समझता है कि वह खून उस हड्डी से निकल रहा है।

३. शार्दूलविक्रीडित छन्द।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. स्वल्पयोः स्नायुवसयोः अवशेषः, स्वल्पस्नायुवसावशेषः तेन मलिनम्— स्वल्प स्नायुवसावशेषमलिनम्।

२. निर्गतं मांसं यस्मात् तत् (अव्ययी भाव)

३. √लभ् + क्त्वा = लब्ध्वा

४. क्षुधायाः शान्तये = क्षुधाशान्तये (षष्ठी तत्पुरुष)

५. द्वाभ्याम् पिबति इति द्विपः तम् द्विपम्

६. नि + √हन् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन)

७. कृच्छे गतः, कृच्छगतः (सप्तमी तत्पुरुष)

८. सत्त्वस्य अनुरूपम् सत्त्वानुरूपम्।

९. अस्थिकं में क प्रत्यय का प्रयोग तुच्छता मात्रा की, अल्पता की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

१०. √त्यज् + क्त्वा = त्यक्त्वा

११. √वाञ्छ् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) = वाञ्छति

१२. सिंहः + जम्बुक = सिंहोजम्बुक (विसर्ग, हशि च)

१३. अङ्के आगतः अंकागतः तम् (सप्तमी तत्पुरुष)

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं,
भूमौ निपत्य वदनोदर दर्शनं च।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु,
धीरं बिलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते।।२९।।

अन्वय- पिण्डदस्य (प्रति) श्वा लाङ्गूलचालनम्, अधः चरणावपातम्, भूमौ निपत्य वदनोदर दर्शनम् च कुरुते, गजपुङ्गवः तु धीरं विलोकयति, चाटुशतैः च भुङ्क्ते।

अनुवाद- अन्न देने वाले के (प्रति) कुत्ता पूँछ हिलाना नीचे चरणों में गिरना और भूमि पर गिरकर मुँह और पेट दिखाना (आदि क्रियाएँ) करता है। (इसके विपरीत) गजश्रेष्ठ तो धैर्यपूर्वक देखता है और सैकड़ों खुशामदों से खाता है।

व्याख्या- क्षुद्र व्यक्ति मात्र अपना पेट भरने के लिए कितनी तुच्छ क्रियाएँ करता है, इस बात को कुत्ते के उदाहरण से तथा स्वाभिमानी व्यक्ति का इसी विषय में कैसा व्यवहार होता है, इसे हाथी के उदाहरण से बताते हुए कवि कहता है कि– कुत्ता मात्र थोड़ा सा अन्न प्राप्त करने के लिए अन्न देने वाले अपने स्वामी के प्रति बार-बार पूँछ हिलाता है, उसके पैरों में गिरकर भूमि पर लेट-लेट कर अपना मुँह और पेट दिखाते हुए अनेक तुच्छ क्रियाएँ करता है, ठीक इसी प्रकार नीच लोग मात्र अपना पेट भरने के लिए धनवानों के सामने अनेक प्रकार से गिड़गिड़ाते हैं तथा उनकी अनेक प्रकार से झिड़कियाँ भी सुनते रहते हैं।

किन्तु इसके विपरीत श्रेष्ठ गजराज जब उसे भोजन दिया जाता है तो वह उस पर टूट कर नहीं पड़ता, अपितु भोजन को दूर से ही अत्यन्त धैर्य के साथ देखता है और अपने अन्नदाता महावत द्वारा अनेक प्रकार की खुशामद किए जाने पर ही स्वाभिमान की रक्षा करते हुए, उस भोजन को खाता है। इसी प्रकार की क्रियाएँ स्वाभिमानी व्यक्तियों की होती हैं वे अपने स्वामी के सामने गिड़गिड़ाते नहीं, अपितु जहाँ तक होता है, प्राणों की बाजी लगाकर भी अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हैं।

विशेष- १. कुत्ते और हाथी के मनोविज्ञान को अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

२. यहाँ कुत्ता निम्न स्वभाव वाले क्षुद्र व्यक्ति का तथा हाथी स्वाभिमानी व्यक्ति का प्रतीक है।

३. यहाँ अप्रस्तुत कुत्ते और हाथी के उदाहरण से प्रस्तुत क्षुद्र और स्वाभिमानी व्यक्ति की क्रियाओं की अभिव्यञ्जना की गई है। अतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार, लक्षण इस प्रकार है—

अप्रस्तुतस्य कथनात्, प्रस्तुतं यत्र गम्यते।
अप्रस्तुतप्रशंसेयं, सारुप्यादि नियन्त्रिता।।

४. वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

५. स्वाभिमानी व्यक्ति का स्वभाव होता है कि वे भूखों भले ही मर जाए, किन्तु अपने स्वाभिमान की पूर्णरूप से रक्षा करते हैं, महाराणा प्रताप इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. पिण्डम् ददाति इति पिण्डदः, तस्य पिण्डदस्य

२. लाङ्गूलस्य चालनम् इति (षष्ठी तत्पुरुष) लाङ्गूलचालनम्

३. चरणयोः अवपातम् (सप्तमी तत्पुरुष) चरणावपातम्

४. नि + √पत् + ल्यप् = निपत्य

५. अव + √पत् + घञ् = अवपातः

६. वदनं च उदरं च वदनोदरं तयोः दर्शनम् वदनोदरदर्शनम् (द्वन्द्व)

७. गजेषु पुङ्गवः गजपुङ्गवः (सप्तमी तत्पुरुष)

८. √भुज् + त (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मने) भुङ्क्ते

९. चाटूनाम् शतैः चाटुशतैः। चाटुशतैः + च = स्तोःश्चुनाश्चुः

१०. √चल् + णिच् + ल्युट् = चालनम्

११. वि + √लोक् + णिच् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) विलोकयति

१२. गजपुङ्गवः + तु = गजपुङ्गवस्तु (विसर्ग— विसर्जनीयस्य सः)

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्॥३०॥

अन्वय– परिवर्तिनि संसारे कः मृतः न (कः) वा (न) जायते, येन जातेन वंशः समुन्नतिम् याति, सः (एव वस्तुतः) जातः।

अनुवाद– परिवर्तनशील संसार में कौन मरता नहीं है और कौन उत्पन्न नहीं होता है। जिसके उत्पन्न होने से वंश उन्नति को प्राप्त होता है, वही वस्तुतः उत्पन्न हुआ है।

व्याख्या– यह संसार परिवर्तनशील है, यहाँ कोई भी व्यक्ति शाश्वत नहीं है, इसीलिए जो भी यहाँ जन्म लेता है उसका मरण निश्चित ही है। ऐसी कोई भी वस्तु इस संसार में नहीं है, जिसका विनाश नहीं होता हो, किन्तु वास्तव में उसका जन्म लेना ही सार्थक है, जिसके उत्पन्न होने से उसके वंश का नाम ऊँचा होता हो, वह उन्नति को प्राप्त करे।

इसलिए इस संसार में आने के पश्चात् अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिए व्यक्ति को सदा ही ऐसे कार्य करने चाहिएँ जिनसे उसका, उसके वंश का इस संसार में यश फैले।

विशेष– १. जन्म लेकर पेट भरते हुए जीवित रहना ही मनुष्य का लक्ष्य नहीं होना चाहिए, अपितु उसे यहाँ अच्छे-अच्छे कार्य करने चाहिएँ, जिनसे उसका वंश का यश दिग्दिगन्त में प्रसारित हो।

२. संसार का शाश्वत नियम है, जो जन्म लेता है वह मरता अवश्य है।

३. अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है—

श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं, सर्वत्र लघु पञ्चमम्।

द्वि चतुष्पादयोर्ह्रस्वं, सप्तमं दीर्घमन्ययोः।।

४. काव्यलिंग अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. परिवर्तन + इनि (सप्तमी विभक्ति, एकवचन) परिवर्तिनि

२. √मृ + क्त = मृतः

३. √जनि (प्रादुर्भावे) + त (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) जायते

४. √जन् + क्त = जातः (तृतीया विभक्ति, एकवचन) जातेन

५. सम् + उत् + √नम् + क्तिन् (द्वितीया विभक्ति, एकवचन) समुन्नतिम्

६. √इण् (गतौ) + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) याति

कुसुमस्तबकस्येव द्वयी वृत्ति[1] र्मनस्विनः।

मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशीर्यते वनेऽथवा।।३१।।

अन्वय– कुसुमस्तबकस्य इव मनस्विनः द्वयी वृत्तिः (भवति)। (सः) सर्वलोकस्य मूर्ध्नि वा, अथवा वने विशीर्यते।

अनुवाद– पुष्प के गुच्छे के समान मनस्वी (व्यक्ति) की दो (ही) स्थितियाँ (होती हैं) (वह) या तो सभी लोगों के सिर पर (विराजमान रहता है) अथवा वन में नष्ट हो जाता है।

व्याख्या– जिस प्रकार पुष्प का गुच्छा देवताओं या अन्य व्यक्तियों द्वारा आभूषण के रूप में अपने सिर पर धारण किया जाता है या फिर अनुपयोग की स्थिति में वह अपने उत्पत्ति स्थान वन में ही खिल कर, वहीं नष्ट हो जाता है।

ठीक इसी प्रकार जो मनस्वी लोग होते हैं, वे या तो अपनी योग्यता, क्षमता आदि के कारण समाज में सर्वोच्च स्थान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं या फिर यदि समाज उनकी योग्यता का सम्मान नहीं करता है तो वैराग्य भाव को प्राप्त होकर वन का सेवन करते हैं और वहीं मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

---

१. द्वे गती स्तो (दो गतियाँ होती हैं)

विशेष– १. मनस्वी की पुष्प के गुच्छ से दी गई उपमा अत्यन्त सुन्दर है तथा भावबोध में सहायक है।

२. उपमालंकार का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है—

''प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधीयते।''

३. अनुष्टुप् छन्द, लक्षण पूर्ववत्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. कुसुमानां स्तबक: कुसुमस्तबक: तस्य, कुसुमस्तबकस्य

२. मनस् + विनि = मनस्विन् (पुल्लिंग, षष्ठी विभक्ति, एकवचन) मनस्विन:

३. कुसुमस्तबकस्य + इव (गुण, आद् गुण:)

४. वि + √शृ + णिच् + त (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) विशीर्यते

५. सर्वेषाम् लोक: सर्वलोक: तस्य सर्वलोकस्य (षष्ठी तत्पुरुष) सर्वस्य लोकस्य (अव्ययी भाव)

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतय: सम्भाविता: पञ्चषा-
स्तान् प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते।
द्वावेव ग्रसते दिवाकरनिशाप्राणेश्वरौ भास्वरौ,
भ्रात:! पर्वणि पश्य दानवपति: शीर्षावशेषीकृत:।।३२।।

अन्वय– बृहस्पतिप्रभृतय: अन्ये अपि पञ्चषा: सम्भाविता: (ग्रहा:) सन्ति, विशेषविक्रमरुचि: एष: राहु: तान् प्रति न वैरायते। भ्रात:! पश्य, शीर्षावशेषीकृत: दानवपति: पर्वणि भास्वरौ दिवाकरनिशा- प्राणेश्वरौ द्वौ एव ग्रसते।

अनुवाद– बृहस्पति आदि दूसरे भी पाँच छ: सम्मानित (ग्रह) हैं, विशेष पराक्रम में रुचि रखने वाला यह राहू उन (ग्रहों) के प्रति वैरभाव नहीं रखता। भाई! देखो, सिर रूप में अवशेष हुआ (यह) दैत्यराज पर्व पर प्रदीप्त होते हुए सूर्य और चन्द्रमा दोनों को ही ग्रसता है।

व्याख्या– तेजस्वी व्यक्ति का स्वभाव होता है कि वह अपने से शक्ति में कमजोर के साथ संघर्ष नहीं करता है, इसी बात को राहू के उदाहरण द्वारा प्रतिपादित करता हुआ कवि कहता है कि— आकाश में बृहस्पति आदि दूसरे भी पाँच, छ: बड़े प्रभावशाली ग्रह विराजते हैं, किन्तु यह राहू जिसकी पराक्रम में विशेष रुचि है, उन ग्रहों के साथ शत्रुता का भाव नहीं रखता, क्योंकि यह तो अपने सत्व के अनुरूप अत्यधिक तेजस्वी सूर्य और चन्द्रमा को पूर्णिमा और अमावस्या पर्वों पर आक्रान्त करता है। यदि सूर्य और चन्द्रमा जैसे परम तेजस्वी ग्रहों के स्थान पर वह दूसरे ग्रहों को आक्रान्त करता तो उसमें उसकी किसी प्रकार की प्रशंसा की बात नहीं होती। अत: उसके लिए यह अत्यन्त गौरव की

बात है कि वह प्रथम तो केवल शीर्षमात्र अवशेष है और द्वितीय उस स्थिति में भी वह दैत्यराज जीवित है तथा परम तेजस्वी, यशस्वी सूर्य और चन्द्रमा के प्रति ही पराक्रम प्रदर्शित कर रहा है, क्योंकि अपने से कमजोर पर बल-प्रदर्शन करना प्रशंसा का नहीं, अपितु निन्दा का कारण ही बनता है।

विशेष– १. जो केवल सिरमात्र अवशिष्ट रह कर भी इतना प्रभावशाली है, उसके सामान्य स्थिति के शौर्य की स्थिति, कल्पनातीत अभिव्यंजित हो रही है।

२. महाकवि भर्तृहरि के काल में नवग्रह की कल्पना स्थिर नहीं हो पायी थी, ऐसा प्रतीत होता है।

३. यहाँ पर्व से अभिप्राय अमावस्या और पूर्णिमा से है।

४. तेजस्वी लोगों का स्वभाव होता है कि वे छोटे अपेक्षाकृत अपने से कमजोरों के प्रति वैरभाव नहीं रखते हैं।

५. अन्यत्र भी कहा गया है– "महान् महत्येव करोति विक्रमम्।"

६. शार्दूलविक्रीडित छन्द है, लक्षण पूर्ववत्।

७. अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. सन्ति + अन्ये + अपि (यण् - इकोयणचि, पूर्वरूपं, एङः पदान्तादति)

२. प्रति + एषः (यण् - इकोयणचि) = प्रत्येषः

३. राहुः + न (विसर्ग - ससजुषोरुः) = राहुर्न

४. द्वावेव (अयादि - एचोऽयवायावः) द्वौ + एव

५. शीर्ष + अवशेष + आकृतिः (दीर्घ - अकःसवर्णे दीर्घः)

६. विशेष विक्रमे रुचिः यस्य सः, विशेषविक्रमरुचिः (बहुव्रीहि)

७. शीर्ष एव अवशेषः यस्य सः, (बहुव्रीहि) शीर्षावशेषः, (शीर्षविशेषा तादृशी आकृतिर्यस्य सः)

८. √भास् + वरप् (द्वितीया विभक्ति, द्विवचन) = भास्वरौ

९. वैर + क्यङ् (य) (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) वैरायते, वैरं करोति इति

१०. बृहताम् पतिः, बृहस्पतिः (षष्ठी तत्पुरुष)

११. सम् + √भू + णिच् + क्त (प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) सम्भाविताः

१२. दानवानाम् पतिः, (षष्ठी तत्पुरुष) दानवपतिः

१३. दनोः अपत्यम् पुमान् इति दानवः

वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थितां,
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स च धार्यते।

तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादराद्,
अहह! महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः॥३३॥

अन्वय– शेषः फणाफलकस्थिताम् भुवनश्रेणीम् वहति, स च कमठपतिना सदा मध्ये पृष्ठम् धार्यते। तम् अपि पयोधिः अनादरात् क्रोडाधीनम् कुरुते। अहह! महताम् चरित्र-विभूतयः निस्सीमानः (भवन्ति)।

अनुवाद– शेषनाग (अपने) फणरूपी फलक पर स्थित, लोकों की पंक्ति को वहन करता है और वह कूर्मराज के द्वारा सदैव पीठ के मध्य में धारण किया जाता है (और) उसे भी समुद्र तिरस्कारपूर्वक अपनी गोद में रख लेता है। अहो! महान् लोगों के कार्यों की महिमा अपार (होती है)।

व्याख्या– महापुरुषों की सामर्थ्य सीमारहित एवं कल्पनातीत होती है, इसी बात की पुष्टि में शेषनाग, कूर्मराज और समुद्र के उदाहरण देते हुए कवि कहता है कि– प्रथम तो शेषनाग का चरित आश्चर्यचकित कर देने वाला है कि वह चौदह भुवनों के विशाल समूह को मात्र अपने फणों के फलक पर थामे हुए है, इस आचरण से उसके सामर्थ्य और शक्ति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उससे भी बढ़कर आश्चर्य तब होता है कि उस चौदह भुवन सहित शेषनाग को भी कच्छपावतार अपनी पीठ के केवल मध्य भाग में ही धारण कर लेते हैं, किन्तु यह आश्चर्य की शृंखला यहीं पूरी नहीं होती, अपितु चौदहभुवन पंक्ति सहित शेषनाग एवं उन्हें धारण किए कच्छपराज को प्रलयकालीन समुद्र अत्यन्त सहज रूप में तिरस्कारपूर्वक अपनी गोद में इस प्रकार धारण कर लेता है जैसे कोई छोटी सी चीज हो।

इस प्रकार इस संसार में महापुरुषों की सामर्थ्य की कोई सीमा नहीं है अर्थात् इससे अधिक कार्य नहीं हो सकेगा अथवा यह अत्यन्त कठिन है ऐसा उनके विषय में नहीं कहा जा सकता है, यह सब देखकर वास्तव में अत्यन्त आश्चर्य होता है।

विशेष– १. पुराणों में उल्लेख हुआ है कि ये सम्पूर्ण लोक जिनकी संख्या चौदह बताई गई है। शेषनाग के फन पर टिके हुए हैं। उसी की ओर प्रस्तुत श्लोक में संकेत किया गया है।

२. 'अहह' अव्यय पद का यहाँ आश्चर्यातिशय की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग हुआ है।

३. माना जाता है कि प्रलयकाल में सब कुछ जलप्लावित हो जाता है।

४. प्रस्तुत श्लोक में पूर्व-पूर्व वर्णित की अपेक्षा उत्तरोत्तर वर्णित का उत्कर्ष वर्णित होने से माला- दीपक अलंकार है। लक्षण इस प्रकार है—

मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम्।

५. हरिणी छन्द प्रयुक्त हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

रसयुगहयैर्न्सौम्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा।।

६. अर्थान्तरन्यास अलंकार का भी प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. भुवनानां श्रेणिः भुवन श्रेणिः तां भुवनानां श्रेणीम् (षष्ठी तत्पुरुष)
२. कमठानां पतिः, कमठपतिः तेन कमठपतिना (षष्ठी तत्पुरुष)
३. पयस् + √धा + कि (प्रथमा विभक्ति, एकवचन) पयोधिः
४. न आदरात् (नञ् समास) अनादरात्
५. चरित्राणां विभूतयः (षष्ठी तत्पुरुष) चरित्रविभूतयः
६. फणा एव फलकं, तस्मिन् स्थिताम्, फणाफलकस्थिताम्
७. √धृ + णिच् + त (लट् लकार, आत्मने, प्रथम पुरुष, एकवचन) धार्यते
८. नास्ति सीमा यासां ताः, निःसीमानः (बहुव्रीहि)
९. पयोधिः + अनादरात् (विसर्ग, ससजुषो रुः)
१०. निःसीमानः + चरित्रविभूतयः (विसर्ग, स्तोःश्चुना श्चुः)
११. √वह् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन)

वरं पक्षच्छेदः[१] समदमघवन्मुक्तकुलिश-
प्रहासैरुद्गच्छद्बहल[२] दहनोद्गारगुरुभिः।
तुषाराद्रेः सूनोरहह! पितरि क्लेशविवशे
न चासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः।।३४।।

अन्वय– उद्गच्छत् – वहलदहनोद्गारगुरुभिः समदमघवन् मुक्तकुलिशप्रहारैः तुषाराद्रैः सूनोः पक्षच्छेदः वरम् (आसीत्) अहह,! पितरि क्लेशविवशे पयसाम् पत्युः पयसि च असौ सम्पातः उचितः न (आसीत्)।

अनुवाद– ऊपर उठती हुई, घनी आग की चिनगारियों से प्रबल, मदयुक्त इन्द्र द्वारा छोड़े हुए वज्र के प्रहारों के द्वारा हिमालय के पुत्र (मैनाक) के पंखों का कट जांना अच्छा (था), (किन्तु) महान् दुःख है, पिता के क्लेश से विवश होने पर जलों के स्वामी (समुद्र) के जल में वह गिरना (छिपना) उचित नहीं (था)।

व्याख्या– प्रस्तुत श्लोक एक पौराणिक कथा की ओर संकेत कर रहा है, प्राचीनकाल में पर्वतों के भी पंख होते थे और वे पक्षियों के समान उड़ सकते थे, उस स्थिति में वे स्वेच्छा से कहीं भी बैठ जाते थे। जिससे धन एवं जन की अत्यधिक हानि होती थी। इससे क्रोधित इन्द्र ने उनके पंखों को अपने वज्र से काटना प्रारम्भ किया।

---

१. प्राणोच्छेदः (प्राणों का नष्ट होना)
२. बहुलदहनो (अत्यधिक अग्नि के)

जिस समय पर्वतराज हिमालय के पंखों को काटा जा रहा था, तभी उसका पुत्र मैनाक स्वयं को बचाने के लिए समुद्र में जाकर छिप गया।

इसी घटना की ओर संकेत करते हुए कवि कहता है कि— शक्तिशाली इन्द्र के वज्र के द्वारा, पर्वतों के पंखों को काटते समय टकराने के कारण अग्नि की ऊँची-ऊँची चिनगारियाँ निकलती थी, ऐसे भयावह समय में जब पिता हिमालय के पंख काटे जा रहे थे तब उसका पुत्र मैनाक स्वयं को बचाने के लिए भाग कर समुद्र के जल में जाकर छिप गया। मैनाक के इस घृणित कार्य के प्रति ही निन्दा व्यक्त करता हुआ कवि कहता है कि भले ही मैनाक के पंख क्यों नहीं कट जाते, प्राण ही क्यों नहीं चले जाते, किन्तु उसका आपत्तिग्रस्त पिता को छोड़कर आत्मरक्षा के लिए समुद्र में जाकर छिपना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं था, क्योंकि पिता के आपत्ति में पड़ने पर पुत्र का कर्तव्य होता है कि वह अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी अपने पिता की रक्षा करे।

विशेष– १. वज्र जैसी कठोर वस्तु जब पर्वतों के कठोर पंखों से टकराई तो भयावह अग्नि की ज्वालाएँ निकलने लगी तब इस रक्तपात से डरकर पुत्र मैनाक अपने प्राण बचाने के लिए समुद्र जाकर छिप गया।

२. यहाँ मनुष्य की स्वार्थमयी वृत्ति की निन्दा की गई है।

३. शिखरिणीछन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।

४. अहह, अव्यय का प्रयोग यहाँ अत्यधिक दुःख की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

५. पर्यायोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √दह् + ल्युट् = दहन
२. उत् + √गम् + शतृ = उद्गच्छत्
३. √मुच् + क्त= मुक्तः
४. मदेन सहित समदः (अव्ययीभाव)
५. √छिद् + घञ् = छेदः
६. क्लेशेन विवशे क्लेशविवशे (तृतीया तत्पुरुष)
७. सम् + √पत् + घञ् = सम्पातः (प्रथमा विभक्ति, एकवचन)
८. उत् + √गृ + घञ् = उद्गारः
९. पक्षाणां छेदः (षष्ठी तत्पुरुष) पक्षच्छेदः
१०. बहलदहन + उद्गारगुरुभिः (गुण, आद् गुणः)
११. च + असौ (दीर्घ - अकः सवर्णे दीर्घः)
१२. पत्युः + उचितः (विसर्ग - ससजुषो रुः)
१३. सूनोः + अहह (विसर्ग - ससजुषो रुः)

१४. प्रहारैः + उद्गच्छद् (विसर्ग - ससजुषो रुः)

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः।

तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते॥३५॥

अन्वय- सवितुः पादैः स्पृष्टः यत् अचेतनः अपि इनकान्तः प्रज्वलति, तत् तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिम् कथम् सहते।

अनुवाद- सूर्य की किरणों से स्पर्श किया गया जब अचेतन भी सूर्यकान्त मणि जल उठता है, तब (भला) तेजस्वी पुरुष दूसरे के द्वारा किए गए अपकार को किस प्रकार सहन कर सकता है।

व्याख्या- तेजस्वी व्यक्ति किसी दूसरे द्वारा किए गए अपकार को किसी भी स्थिति में सहन नहीं कर सकते हैं, इसी बात के औचित्य को सिद्ध करते हुए कवि सूर्यकान्त मणि का उदाहरण देते हुए कहता है कि जब पूरी तरह अचेतन, निष्प्राण, जड़ सूर्यकान्त मणि सूर्य जैसे तेजस्वी (व्यक्ति) के किरणों रूपी पैरों से ताडित, (अपमानित) होकर उत्तर में, अपने तेज को प्रदर्शित करते हुए प्रतिकार करती हैं।

यदि अचेतन, निष्प्राण वस्तु की यह स्थिति है तो फिर तेजस्वी व्यक्ति तो सचेतन है। अतः वह दूसरों द्वारा किए गए अपमान को कैसे सहन कर सकता है।

विशेष- १. स्वाभिमानी व्यक्ति कभी भी दूसरों द्वारा किए गए अपमान को सहन करने में असमर्थ रहता है।

२. सूर्यकान्त मणि की यह विशेषता होती है कि सूर्य की किरणों के सम्पर्क में आने पर वह जल उठती है।

३. आर्या छन्द का प्रयोग हुआ है-

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।

अष्टादश द्वितीये, चतुर्थके पञ्चदश सार्या॥

४. यत् और तत् पदों का प्रयोग जब और तब अर्थ में हुआ है।

५. दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

१. यत् + अचेतनः + अपि (झलांजशोऽन्ते, अतो रोरप्लुतादप्लुते)

२. √स्पृश् + क्त = स्पृष्टः (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

३. परैःकृतम् (तृतीया तत्पुरुष) परकृतम्

४. नि + √कृ + क्तिन् (द्वितीया विभक्ति, एकवचन) निकृतिम्

५. √सह् + त (आत्मने, प्रथम पुरुष, एकवचन, लट् लकार)

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।

प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः॥३६॥

अन्वय– सिंहः शिशुः अपि मदमलिन कपोलभित्तिषु गजेषु निपतति, खलु इयम् सत्त्ववताम् प्रकृतिः, वयः खलु तेजसः हेतुः न (भवति)।

अनुवाद– शेर का बच्चा भी मद से मलिन गण्डस्थलों वाले हाथियों पर आक्रमण करता है, निश्चय ही यह तेजस्वियों का स्वभाव (है), आयु ही तेज का कारण नहीं (होती)।

व्याख्या– पराक्रम तेजस्वी प्राणी का स्वभाव ही होता है, चाहे वह किसी भी आयु का क्यों न हो। अतः पराक्रम प्रदर्शन का सम्बन्ध आयु से नहीं, अपितु व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर है।

यही कारण है कि शेर का बच्चा अल्पायु होने पर भी छोटे-मोटे प्राणियों को अपना शिकार नहीं बनाता है, अपितु ऐसे शक्तिशाली हाथी, जिनके गण्डस्थल मदजल के निरन्तर बहने के कारण मलिन हैं, पर ही शिकार करने के लिए आक्रमण करता है।

विशेष– १. पराक्रम का सम्बन्ध आयु से नहीं, अपितु व्यक्ति या प्राणी के स्वभाव से है।

२. प्रस्तुत श्लोक में आर्या छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण पूर्ववत् है।

३. मद-शक्तिशाली एवं नवयुवक श्रेष्ठश्रेणी के हाथी की कनपटियों से निकलने वाला द्रव पदार्थ।

४. काव्यलिंग अलंकार।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. प्रकृतिः + इयम् (ससजुषो रुः विसर्ग) प्रकृतिरियम्
२. शिशुः + अपि (ससजुषो रुः, विसर्ग) शिशुरपि
३. नि + √पत् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) निपतति
४. सत्त्व + मतुप् = सत्त्वत् (षष्ठी विभक्ति, बहुवचन)
५. मदेन मलिनाः कपोलानाम् भित्तयः येषाम् तेषु
६. तेजसः + हेतुः (विसर्ग, हशि च)

मालतीकुसुमस्येव द्वे गती स्तो मनस्विनः।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा॥३७॥

अन्वय– मालती कुसुमस्य इव मनस्विनः द्वे गती स्तः। सर्वलोकस्य मूर्ध्नि वने एव वा शीर्यते।

अनुवाद– मालती पुष्प के समान मनस्वी की दो स्थितियाँ हैं। (वह या तो) सभी लोगों के ऊपर (रहता है) या (फिर) वन में ही नष्ट हो जाता है।

व्याख्या– जो लोग स्वाभिमानी होते हैं, उनकी स्थिति मालती के फूल के समान दो प्रकार की होती है— जिस प्रकार पुष्प, देवता आदि के मस्तक पर आरुढ़ होकर सम्मान

प्राप्त करता है या फिर वन में ही नष्ट हो जाता है। ठीक उसी प्रकार या तो वह सम्पूर्ण समाज अथवा राष्ट्र में सर्वोपरि पद पर रहकर शासन करते हुए सम्मान प्राप्त करता है अथवा फिर वह वैराग्य भावना से युक्त होकर वन में ही तपस्या करता हुआ प्राण त्याग देता है और संसार के लोग उसे जान भी नहीं पाते हैं।

विशेष– १. मनस्वी व्यक्ति की उपमा मालती पुष्प के साथ दी गई है। अतः उपमालंकार–लक्षण–

प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधीयते।

२. मनस्वी लोगों की विशेषता है कि वे निकृष्ट जीवन की अपेक्षा मर जाना अधिक श्रेष्ठ समझते हैं।

३. स्वाभिमानी व्यक्ति के स्वभाव का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया गया है।

४. अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है–

श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं, सर्वत्रलघुपञ्चमम्।
द्विःचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. मनस् + विनि (पुल्लिंग, षष्ठी विभक्ति, एकवचन) मनस्विनः

२. सर्वेषाम् लोकः सर्वलोकः तस्य सर्वलोकस्य

३. √शृ + त (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) शीर्यते

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम्।
क्रियते भास्करेणेव परिस्फुरिततेजसा[१]॥३८॥

अन्वय– परिस्फुरिततेजसा भास्करेण इव एकेन अपि शूरेण हि महीतलम् पादाक्रान्तम् क्रियते।

अनुवाद– प्रखर तेज से युक्त सूर्य के समान अकेले शूर के द्वारा भी निश्चय ही (सम्पूर्ण) पृथ्वी तल पादाक्रान्त कर लिया जाता है।

व्याख्या– जिस प्रकार देदीप्यमान तेज से युक्त सूर्य अपनी किरणों से सम्पूर्ण संसार को आक्रान्त कर लेता है, ठीक उसी प्रकार एक अकेला शूरवीर भी अपनी शक्ति, तेज एवं यश के द्वारा सम्पूर्ण पृथिवीतल को आक्रान्त कर लेता है अर्थात उसका प्रभाव सम्पूर्ण संसार में सूर्य के समान प्रसारित होता है।

विशेष– १. शूरवीर की उपमा सूर्य के साथ दी गई है।

२. प्रस्तुत श्लोक में 'पाद' पद में श्लेष है, सूर्य के पक्ष में इसका अर्थ 'किरण' होगा तथा शूर के पक्ष में इसका 'चरण' अर्थ होगा। अतः श्लेष अलंकार है। लक्षण है–

---

१. स्फारस्फुरित

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।

३. अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण—

श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विः चतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. पादैः आक्रान्तम् (तृतीया तत्पुरुष) पादाक्रान्तम्

२. आ + √क्रम् + क्त = आक्रान्तम्

३. परि + √स्फुर् + क्त = परिस्फुरितम्

४. परिस्फुरितं तेजो यस्य सः, तेन परिस्फुरित तेजसा (बहुव्रीहि)

५. √कृ + त (लट् लकार, आत्मने, प्रथम पुरुष, एकवचन) क्रियते

६. भास्करेण + इव (आद् गुणः) (अ + इ = ए)

७. एकेन + अपि (अकः सवर्णे दीर्घः, अ + अ = आ)

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वां,
अत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाम्।
तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति,
सत्यव्रतव्यसनिनो च पुनः प्रतिज्ञाम्॥३९॥

अन्वय– सत्यव्रतव्यसनिनः, तेजस्विनः असून् अपि सुखम् सन्त्यजन्ति, पुनः अत्यन्त-शुद्धहृदयम् अनुवर्तमानाम् जननीम् इव लज्जागुणौघजननीम् स्वाम् प्रतिज्ञाम् न त्यजन्ति।

अनुवाद– सत्यव्रत में रुचि रखने वाले, तेजस्वी (लोग) प्राणों को भी सुखपूर्वक छोड़ देते हैं, किन्तु (वे) अत्यन्त शुद्ध हृदय वाली, अनुकूल आचरण करने वाली, माता के समान लज्जा आदि गुणों के समूह को उत्पन्न करने वाली, अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ते हैं।

व्याख्या– इस संसार में जो लोग सदा सत्यभाषण का व्रत लिए हुए हैं तथा तेजस्वी और स्वाभिमानी हैं, दृढ़प्रतिज्ञ वे, भले ही प्राण क्यों न चले जाएँ, कितना भी कष्ट क्यों न हो स्वयं द्वारा की गयी प्रतिज्ञा का अत्यन्त शुद्ध हृदय वाली, अनुकूल आचरण करने वाली माता के समान, कभी भी त्याग नहीं करते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि दृढ़प्रतिज्ञ लोग अपने वचन का पालन करते के लिए प्राणों की भी परवाह नहीं करते और लज्जा आदि गुणों की समूह अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा हृदय से प्रेम करने वाली, अनुकूल आचरण करने वाली माँ के समान पूरे मनोयोग से करते हैं।

विशेष– १. श्रेष्ठ पुरुषों के लिए अपने वचनों का पालन किया जाना अत्यन्त प्रशंसनीय है।

२. अन्यत्र भी कहा गया है— अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।

३. प्रतिज्ञा को माता के समान सदैव प्राणों की बलि देकर भी रक्षा कें योग्य बताया गया है।

४. वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

५. प्रस्तुत श्लोक नीतिशतकम् की सभी प्रतियों में उपलब्ध नहीं होता।

६. अन्यत्र भी कहा गया है— रघुकुल रीत सदा चली आई प्राण जाएँ पर वचन न जाई।

७. 'असु' प्राणवाची शब्द नित्य बहुवचनान्त होता है।

८. उपमालंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. सत्यव्रत व्यसन + इनि (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) सत्यव्रतव्यसनिनः

२. तेजस् + वनि (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) तेजस्विनः

३. अत्यन्तं शुद्धं हृदयं यस्याः सा, ताम् (बहुव्रीहि) अत्यन्तशुद्धहृदयाम्

४. अनु + √वृत् + शानच् + टाप् = अनुवर्तमाना ताम्

५. लज्जा च गुणाश्च, लज्जागुणाः, तेषाम् लज्जागुणानाम् ओघः, लज्जागुणौघः तस्य जननी, लज्जागुणौघजननी ताम् लज्जागुणौघजननीम्।

अर्थ पद्धतिः

जातिर्यातु रसातलं गुणगणैस्तस्याप्यधो गच्छतु,
शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोस्तु नः केवलं,
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे।।४०।।

अन्वय– जातिः रसातलम् यातु, गुणगणः तस्य अपि अधः गच्छतु, शीलम् शैलतटात् पततु, अभिजनः वह्निना संदह्यताम्, वैरिणि शौर्ये आशु वज्रम् निपततु, नः तु केवलम् अर्थः अस्तु, येन एकेन विना इमे समस्ताः गुणाः तृणलवप्रायाः सन्ति।

अनुवाद– (भले ही) जाति पाताल में चली जाए, गुणों का समूह उससे भी नीचे चला जाए, श्रेष्ठ स्वभाव पर्वत की चोटी से गिर पड़े, उच्चकुल अग्नि से जल जाए, शत्रु शूरता पर शीघ्र ही वज्र गिर जाए, किन्तु हमारे पास तो केवल धन हो, जिस एक के बिना ये सारे गुण तिनके के एक अंश मात्र के बराबर हैं।

व्याख्या– इस संसार में जाति, गुण, शील, उच्चकुल, शौर्य, आदि सभी गुण पूर्णतया निरर्थक है, यदि व्यक्ति के पास धन नहीं है, इसी का प्रतिपादन प्रस्तुत श्लोक में करते हुए कवि कहता है कि–

मैं नहीं चाहता कि मैं उच्च जाति में उत्पन्न होऊँ, जाति जाए भाड़ में (पाताल में) ठीक इसी प्रकार तुम गुणों की बात करते हो, एक गुण ही नहीं, अपितु इस संसार में जितने भी गुणों का समूह है वह सारा ही, पाताल से भी नीचे यदि कोई लोक है तो वहाँ चला जाए मुझे उनसे भी कुछ लेना देना नहीं है।

शील की बात करते हो, वह भी पर्वत की चोटी से गिरकर नष्ट हो जाए, मेरा उसके प्रति भी कोई मोह नहीं है। उच्चकुल, नहीं चाहिए मुझे, जल जाए आग में वह भी, वीरता भी मुझे नहीं चाहिए मैं तो कहता हूँ कि वीरता नामक तत्त्व पर वज्र ही क्यों न गिर जाए, उसका अस्तित्व ही नष्ट क्यों न हो जाए।

तब प्रश्न उठता है कि तुम्हें ये सब यदि नहीं चाहिएँ तो फिर चाहते क्या हो? कवि कहता है कि मुझे तो केवल धन चाहिए। जिस एक के बिना ऊपर बताए गए सारे गुण तिनके के समान तुच्छ हैं। अतः इस संसार में एकमात्र धन की ही महिमा है, अन्य गुणों की नहीं।

विशेष– १. एकमात्र धन को ही सर्वोच्च प्रतिपादित किया गया है।

२. जाति, कुल, गुण, शील एवं शौर्य आदि गुणों के प्रति उपेक्षा प्रतिपादित की गई है।

३. वैरिणी पद का प्रयोग शूरता के लिए गाली के रूप में किया गया है।

४. विना के योग में एकेन में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

५. शार्दूलविक्रीडित छन्द, लक्षण इस प्रकार है–

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

६. काव्यलिंग एवं उपमालंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. गुणानाम् गणः (षष्ठी तत्पुरुष) गुणगणः
२. वैर + इनि = वैरिन्, तस्मिन् वैरिणि
३. शूर + ष्यञ् = शौर्य तस्मिन् शौर्ये (सप्तमी विभक्ति, एकवचन)
४. √गम् + तिप् (लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) गच्छतु
५. शैलस्य तटात् (षष्ठी तत्पुरुष) शैलतटात्
६. सम् + √दह् + णिच्, संदह्यताम्

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः।
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः,

सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते।।४१।।

अन्वय– यस्य वित्तम्, सः नरः कुलीनः अस्ति, सः पण्डितः, सः श्रुतवान्, (सः) गुणज्ञः, सः एव वक्ता, सः च दर्शनीयः (अस्ति)। सर्वे गुणाः काञ्चनम् आश्रयन्ते।

अनुवाद– जिसके पास धन (है), वह व्यक्ति कुलीन (है), वह पण्डित (है), वह शास्त्रज्ञ (है), (वह) गुणों को जानने वाला है, वही वक्ता (है) और वह दर्शन के योग्य है। सभी गुण सोने के आश्रित होते हैं।

व्याख्या– इस संसार में जिस व्यक्ति के पास धन है उसके कुलादि को कोई भी व्यक्ति नहीं देखता अथवा यों कहें कि धन के कारण वह उच्चकुल वाले के समान देखा जाता है, भले ही निम्न कुल में उत्पन्न क्यों न हुआ हो। लोगों की दृष्टि में वह सबसे बड़ा पण्डित और शास्त्रों को जानने वाला विद्वान् होता है।

इसी धन के कारण वह सबसे बड़ा गुणों का पारखी होता है, वक्तृत्व कला का ज्ञाता और दर्शन को योग्य अर्थात् सुन्दर भी वही है जो ऐश्वर्य सम्पन्न है। वास्तव में लोक में यही देखा जाता है कि यदि व्यक्ति के पास धन है तो उपरोक्त सभी गुण उसमें स्वतः आ जाते हैं, भले ही इनमें से एक भी उसके पास नहीं हो।

अतः संक्षेप में यही कहना उचित प्रतीत होता है कि सभी गुण एकमात्र सोने में ही निवास करते हैं।

विशेष– १. मनुष्य को इन गुणों की परवाह न करके अपने जीवन का लक्ष्य केवल धन के अर्जन को ही बनाना चाहिए।

२. धन के सामने उक्त सभी गुण पूर्णतया निरर्थक हैं।

३. धन के अभाव में उपर्युक्त गुणों का होते हुए भी कोई महत्त्व नहीं है।

४. प्रस्तुत श्लोक में असम्बन्ध में भी सम्बन्ध का कथन किया गया है। अतः अतिशयोक्ति अलंकार है। लक्षण इस प्रकार है—

सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते।

५. उपजाति छन्द का प्रयोग हुआ है। इस छन्द में उपेन्द्रवज्रा एवं इन्द्रवज्रा दोनों संयुक्त रूप से रहते हैं।

यत्र द्वयोरप्यनयोस्तु पादा भवन्ति मेघाजितवादि बुद्धे।

विद्वद्भिराद्यैः परिकीर्तिता सा प्रयुज्जतामित्युपजातिरेषा।।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. कुल + ख (ईन) (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = कुलीनः

२. पण्डा + इतच् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = पण्डितः

३. श्रुत + मतुप् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = श्रुतवान्

४. गुण + ज्ञा + क (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = गुणज्ञः

५. √वच् + तृच् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = वक्ता

६. √दृश् + अनीयर् ((पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = दर्शनीयः

७. आ + √श्रि + णिच् (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन)

८. √विद् + क्त = वित्तम्

९. श्रुतम् अस्य अस्ति इति, श्रुतवान्

१०. यस्य + अस्ति = (दीर्घ, अकः सवर्णे दीर्घः) = यस्यास्ति

११. यहाँ सर्वत्र सः के विसर्गों का लोप "एतत्तदोः सुलोपोऽकोर नञ् समासे हलि" इत्यादि सूत्र से हुआ है।

१२. स एव में विसर्ग का लोप "सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्" सूत्र से हुआ है।

दौर्मन्त्र्यान्नृपति र्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालनात्,
विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात्।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रयान्,
मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात् त्यागात्प्रमादाद् धनम्॥४२॥

अन्वय- दौर्मन्त्र्यात् नृपतिः, सङ्गात् यतिः, लालनात् सुतः, अनध्ययनात् विप्रः, कुतनयात् कुलम्, खलोपासनात् शीलम्, मद्यात् ह्रीः, अनवेक्षणात् कृषिः, अपि प्रवासाश्रयात् स्नेहः, अप्रणयात् मैत्री, अनयात् समृद्धिः, त्यागात् च धनम् विनश्यति।

अनुवाद- अनुचित सलाह से राजा, (विषयों के) सङ्ग से सन्यासी, लाड़-प्यार से पुत्र, अनध्ययन से ब्राह्मण, कुपुत्र से वंश, दुष्टों की संगति से सदाचार, मदिरा से लज्जा, देखभाल न करने से खेती भी, विदेश में रहने से प्रेम, प्रेम के अभाव में मित्रता, अनीति से समृद्धि, त्याग और आलस्य से धन नष्ट हो जाता है।

व्याख्या- यदि राजा को गलत सलाह देने वाले मन्त्री मिल जाएँ तो वह नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार यदि सन्यासी इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो जाए अर्थात् सांसारिक भोगों में लिप्त हो जाए तो वह नष्ट हो जाता है। यदि पुत्र को बहुत अधिक लाड़-प्यार दिया जाए तो वह बिगड़ जाता है अर्थात् गलत मार्ग पर चल कर नष्ट हो जाता है।

यदि ब्राह्मण प्रतिदिन शास्त्रों का अध्ययन न करे तो उसका प्रभाव ज्ञान के अभाव में कम होने के कारण, वह नष्ट हो जाता है। यदि वंश में बुरी आदतों वाला, दुष्टों की संगति में रहने वाला पुत्र रहे तो वह कुल ही नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार यदि व्यक्ति दुष्टों की संगति में रहता है तो उसका सदाचरण नष्ट हो जाता है अर्थात् वह दुराचरण करने लगेगा।

यदि व्यक्ति शराब पी ले तो उसकी लज्जा नष्ट हो जाती है, वह किसी भी गलत

कार्य करने में तनिक भी शर्म अनुभव नहीं करेगा और इसी प्रकार खेती की देखभाल यदि नियमित रूप से न की जाए तो वह खेती भी नष्ट हो जाती है।

इसके अतिरिक्त यदि व्यक्ति विदेश में रहने लगता है तो दूर रहने का कारण उसके अपने प्रियजनों का प्रेम धीरे-धीरे उसके साथ कम होकर अन्त में समाप्त ही हो जाएगा और यदि एक मित्र दूसरे मित्र से अत्यधिक प्रेम करता हो और दूसरा मित्र उसके साथ बराबर प्रेम प्रदर्शित नहीं करे तो वह मित्रता भी नष्ट हो जाती है।

इसी प्रकार यदि व्यक्ति अनीतिपूर्वक आचरण करता है तो उसका ऐश्वर्य, समृद्धि सब कुछ नष्ट हो जाता है और अन्त में कवि कहता है कि यदि धन का निरन्तर व्यर्थ में त्याग किया जाए अर्थात् उसे खर्च किया जाए और कमाने में आलस्य भी करें तो कितना भी बड़ा खजाना क्यों न हो, वह भी नष्ट हो जाता है।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक में अत्यन्त सुन्दर शैली में व्यक्ति को सावधान रहने के लिए कहा गया है।

२. प्रस्तुत श्लोक में प्रतिपादित बातें अत्यन्त व्यावहारिक एवं सत्य हैं।

३. प्रस्तुत श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है, लक्षण—

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

४. काव्यलिंग एवं दीपक अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. नृणाम् पतिः, नृपतिः (षष्ठी तत्पुरुष)

२. √सञ्ज् + घञ् = सङ्गः तस्मात् सङ्गात् (पंचमी विभक्ति, एकवचन)

३. अधि + √इ + ल्युट् = अध्ययनं, न अध्ययनं इति, अनध्ययनं, तस्मात् = अनध्ययनात् (नञ् समास)

४. कुत्सितः तनयः इति कुतनयः तस्मात् कुतनयात् (अव्ययीभाव)

५. खलस्य उपासनम्, खलोपासनम्, तस्मात् खलोपासनात् (षष्ठी तत्पुरुष)

६. उप + √आस् + ल्युट् (पञ्चमी विभक्ति, एकवचन) उपासनात्

७. न अवेक्षणात् इति (नञ् समास) अनवेक्षणात्

८. अव + √ईक्ष् + ल्युट् (पञ्चमी विभक्ति, एकवचन) अवेक्षणात्

९. प्रवासस्य आश्रयात्, प्रवासाश्रयात् (षष्ठी तत्पुरुष)

१०. प्र + √वस् + घञ् = प्रवासः, तस्मात् प्रवासात् (पञ्चमी विभक्ति, एकवचन)

११. आ + √श्रि + अच् = आश्रयः, तस्मात् आश्रयात् (पञ्चमी विभक्ति, एकवचन)

१२. √स्निह् + घञ् = स्नेहः

१३. न प्रणयः इति अप्रणयः, तस्मात् अप्रणयात् (नञ् समास)

१४. √नी + अच् = नयः। प्र + √मद् + घञ् = प्रमादः

दानं भोगो नाशः तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।

यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥४३॥

अन्वय– वित्तस्य तिस्रः गतयः भवन्ति, दानम्, भोगः, नाशः च। यः न ददाति, न भुङ्क्ते, तस्य (धनस्य) तृतीया गतिः भवति।

अनुवाद– धन की तीन स्थितियाँ होती है— दान, भोग (और) नाश। जो (व्यक्ति) न देता है, न भोगता है, उस (धन) की तीसरी गति होती है।

व्याख्या– धन की तीन स्थितियाँ होती है— प्रथम दान देना, द्वितीय उसका भोग करना और तृतीय विनाश। यदि व्यक्ति के पास धन है तो उसे उसका यथाशक्ति जरूरतमन्दों को, निर्धनों को दान अवश्य करना चाहिए और अपनी सामर्थ्य के साथ उसका स्वयं के लिए एवं अपने परिवार के लिए अधिक से अधिक भोग भी करना चाहिए।

किन्तु यदि व्यक्ति के पास धन है और वह उसे न तो याचकों को दान देता है और न ही उसका स्वयं भोग ही करता है, तो फिर उस धन की तीसरी गति अर्थात् विनाश ही होता है। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक में धन की तीन गतियों का उल्लेख किया गया है।

२. व्यक्ति को यदि उसके पास धन है तो खुले मन से उसका दान और उपभोग करना चाहिए। अन्यथा उसका विनाश सुनिश्चित है।

३. आर्या छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

यस्या पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।

अष्टादश द्वितीये, चतुर्थके पञ्चदश सार्या॥

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √गम् + क्तिन् = गतिः (स्त्रीलिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) गतयः

२. √दा + ल्युट् (नपु., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = दानम्

३. √भुज् + घञ् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = भोगः

४. √नश् + घञ् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = नाशः

५. √भू + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) = भवन्ति

६. √दा + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) = ददाति

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेति निहतो,

मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः।

कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता,[1]

---

१. बालललना— अर्थ वही होगा।

तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः।।४४।।

अन्वय– शाणोल्लीढः मणिः, हेति निहतः समरविजयी, मदक्षीणः नागः, शरदि श्यान-पुलिनाः सरितः, कलाशेषः चन्द्रः, सुरतमृदिता बालवनिता, अर्थिषु गलितविभंवाः जनाः च तनिम्नाः शोभन्ते।

अनुवाद– शाण पर चढ़ाया हुआ मणि, शस्त्रों से घायल युद्ध-विजयी, मद से दुर्बल हाथी, शरद् (ऋतु) में सूखे तटों वाली नदियाँ, एक कलामात्र अवशिष्ट चन्द्रमा, सम्भोग द्वारा मर्दन की गई बाला स्त्री और याचकों में नष्ट हो गया है ऐश्वर्य जिनका, ऐसे लोग (ये सब) कृशता में ही शोभित होते हैं।

व्याख्या– चमक एवं सुन्दरता बढ़ाने के लिए शाण पर चढ़ाया हुआ हीरा आदि मणि यद्यपि खरादने से पतला (दुर्बल) हो जाता है, किन्तु फिर भी वह अच्छा लगता है। इसी प्रकार युद्ध में शत्रु के शस्त्रों से घायल, किन्तु विजय को प्राप्त हुआ वीर अत्यन्त कमजोर अवस्था में भी सुन्दर प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त निरन्तर मद के स्राव से दुर्बल हुए हाथी की सुन्दरता देखते ही बनती है, क्योंकि यह मद– पंक्ति इस बात का प्रमाण है कि भले ही अब यह हाथी कमजोर हो गया हो, किन्तु एक समय यह अत्यन्त शक्तिशाली और उच्चकोटि का रहा है।

इसीप्रकार यद्यपि शरद् ऋतु में नदियों के तटों पर दूर-दूर तक रेत दिखाई देता है और जलप्रवाह सीमित विस्तार में रह जाता है, किन्तु फिर भी अपनी पूर्व समृद्धि की स्मृति के साथ इस दशा में भी वे दर्शनीय लगते हैं।

ऐसे ही दूज का चन्द्रमा जिसकी एक कला मात्र ही शेष है, निर्बल दशा में पतला सा भी सुन्दर लगता है। ठीक इसी प्रकार सम्भोग के बाद दुर्बल एवं शिथिल हुई भी बाल स्त्री, कम आयु वाली बाला स्त्री, आकर्षक एवं मनमोहक प्रतीत होती है।

ठीक इसी प्रकार ऐसे लोग जिनका ऐश्वर्य याचकों को देने से समाप्त हो गया है, निर्धन अवस्था में भी (अर्थात् दुर्बल भी) सुन्दर प्रतीत होते हैं। इस प्रकार ये सब निम्न अवस्था में भी सुन्दर लगते हैं।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक में वस्तुतः उन सबको गिनाया गया है, जो दुर्बल अवस्था में भी आकर्षक प्रतीत होते हैं।

२. यदि दान देने से व्यक्ति धनहीन भी हो जाता है तो उसके आंकर्षण व सम्मान में कमी नहीं आती है, अपितु वृद्धि ही होती है।

३. दाने देना धन का सर्वाधिक उत्तम उपयोग है।

४. प्रस्तुत श्लोक में शिखरिणी छन्द है, लक्षण इस प्रकार है—

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमन सभलागः शिखरिणी।

५. यहाँ अप्रस्तुत मणि आदि का प्रस्तुत मनुष्यों के साथ एक धर्मरूप सम्बन्ध होने से दीपक अलंकार, लक्षण इस प्रकार है—

''अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते।।''

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. उत् + √लिह् + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)
२. हेतिभिः निहतः = हेतिनिहतः (तृतीया तत्पुरुष) √हन् + क्तिन्
३. नि + √हन् + क्त = निहतः
४. वि + √जि + अच् = विजय + इनि (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)
५. √क्षि + क्त = क्षीणः
६. श्यानानि पुलिनानि यासां ता, श्यानपुलिनाः (बहुव्रीहि)
७. √श्यै + क्त = श्यानः
८. कला एव शेषः यस्यः सः = कलाशेषः (बहुव्रीहि)
९. गलिताः विभवाः येषां ते, गलितविभवाः (बहुव्रीहि)
१०. तनु + इमनिच् = तनिमन् (तृतीया विभक्ति, एकवचन) तनिम्ना
११. सुरते मृदिता सुरतमृदिता (सप्तमी तत्पुरुष)
१२. मदेन क्षीणः मदक्षीणः (तृतीया तत्पुरुष)

परिक्षीणः कश्चित् स्पृहयति यवानां प्रसृतये,
स पश्चात् सम्पूर्णो गणयति धरित्रीं तृणसमाम्।
अतश्चानैकान्त्याद् गुरुलघुतयार्थेषु धनिनां,
अवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च।।४५।।

अन्वय– (कदापि) कश्चित् परिक्षीणः यवानाम् प्रसृतये स्पृहयति। पश्चात् सम्पूर्णः सः (एव) धरित्रीम् तृणसमाम् गणयति। अतः अनैकान्त्यात् धनिनाम् अवस्था अर्थेषु गुरुलघुतया वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च।

अनुवाद– (कभी) कोई दरिद्र धान की अंजलि के लिए लालायित होता है, बाद में (धन से) परिपूर्ण वही (सम्पूर्ण) पृथिवी को तिनके के समान मानता है। अतः धनों में अनेक अवस्था वाला होने के कारण धनवानों की अवस्था छोटी बड़ी होने का कारण, वस्तुओं को घटाती और बढ़ाती रहती है।

व्याख्या– व्यक्ति गरीबी की अवस्था में यह विचार करता है कि काश मुझे आज पेट भरने के लिए कोई मुट्ठी भर धान दे दे। इस स्थिति में उसके लिए मुट्ठी भर चावल का अत्यधिक महत्त्व होता है, किन्तु वही व्यक्ति, समय के परिवर्तन के साथ यदि धनाढ्य अथवा राजा बन जाता है तो सारी धरती को तिनके के समान तुच्छ मानने लगता है। इसी आकस्मिक परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए कवि कहता है कि—

वास्तव में इस संसार की कोई भी वस्तु न तो महत्त्वपूर्ण है और न ही महत्त्वहीन, अपितु यदि उससे मनुष्य की आवश्यकता पूरी होती है तो उसके लिए महत्त्व की है और यदि उससे उसकी आवश्यकता पूरी नहीं होती तो वह उसके लिए महत्त्वहीन होती है।

अतः धन की कोई स्थिति अथवा मूल्य नहीं, अपितु उसके प्रति व्यक्ति की कितनी चाह है वही उसके महत्त्व को घटाती बढ़ाती रहती है। इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि व्यक्ति की अपनी अवस्था ही जो दुर्बल और सबल अनेक रूपों वाली होती है, छोटी या बड़ी होने का कारण वस्तुओं के महत्त्व को घटाती या बढ़ाती रहती है। वस्तु का स्वयं में कोई महत्त्व नहीं होता।

विशेष– १. यह बात पूर्णतः सत्य है कि भूखे के लिए रोटी का जो महत्त्व है, वह पेट भरे हुए व्यक्ति के लिए नहीं।

२. मनुष्य की दृष्टि धनों के प्रति सदैव एक जैसी नहीं होती, बदलती रहती है, इसी का कथन प्रस्तुत श्लोक में हुआ है।

३. प्रस्तुत श्लोक में शिखरिणी छन्द है, लक्षण इस प्रकार है—

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमन सभलागः शिखरिणी।

४. संसार की वस्तुओं का अपना कोई मूल्य नहीं, उसका मूल्य मनुष्य की दृष्टि पर निर्भर है।

५. दीपक एवं काव्यलिंग अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. परि + √क्षि + क्त = परिक्षीणः (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

२. प्र + √सृ + क्तिन् = प्रसृतिः (स्त्रीलिंग, चतुर्थी विभक्ति, एकवचन) प्रसृतये

३. √गण् + णिच् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) गणयति

४. एकान्तस्य भावः एकान्त्यम्, न एकान्त्यम्, अनैकान्त्यम् तस्मात्— अनैकान्त्यात् (नञ् तत्पुरुष)

५. गुरु च लघु च तयोः भावः गुरुलघुता, तया गुरुलघुतया

६. गुरुलघु + तल् = गुरुलघुता

७. सम् + √कुच् + णिच् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) संकोचयति

८. सम्पूर्णः + गणयति (विसर्ग, हशि च)

९. गुरुलघुतया + अर्थेषु (दीर्घ, अकः सवर्णे दीर्घः)

१०. √पृथु (विस्तरणे) + णिच् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) प्रथयति

११. तृणेन समाम् तृणसमाम् (तृतीया तत्पुरुष)

राजन् दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेतां,
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण।
ताश्स्मश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे,
नाना फलं[१] फलति कल्पलतेव भूमिः॥४६॥

अन्वय– (हें) राजन्! यदि (त्वम्) एताम् क्षितिधेनुम् दुधुक्षसि, तेन अमुम् लोकम् अद्य वत्सम् इव पुषाण। तस्मिन् अनिशम् सम्यक् परिपोष्यमाणे (एषा) भूमिः कल्पलता इव नानाफलैः फलति।

अनुवाद– (हे) राजन्, यदि (तुम) इस पृथिवी रूपी गाय को दुहना चाहते हो (तो) उसके लिए इस प्रजा को आज बछड़े के समान पुष्ट करो और उसके निरन्तर ठीक प्रकार परिपुष्ट होने पर (यह) भूमि कल्पलता के समान अनेक फलों को निष्पादित करती है।

व्याख्या– ऐसे राजा को जो सदा ही प्रजा का शोषण करता रहता है, सम्बोधित करते हुए कवि कहता है कि– हे राजन्, यदि तुम इस पृथिवी रूपी गाय से अनेक प्रकार की उपलब्धियाँ प्राप्त करना चाहते हो तो पहले इस प्रजा रूपी बछड़े की ठीक प्रकार सेवा-सुश्रूषा करो, क्योंकि इस बछड़े के संतुष्ट एवं पुष्ट होने पर ही यह पृथिवी तुम्हें कल्पलता के समान अनेक फलों को बिना माँगे ही प्रदान करेगी।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रजा के प्रसन्न और संतुष्ट होने पर ही राजा को उससे ठीक प्रकार करादि की प्राप्ति होती है। जो राजा की आय का प्रमुख साधन है। प्रजा भी उस स्थिति में मन से परिश्रम करेगी और अनेक प्रकार के उत्पादों को इस धरती से प्राप्त करेगी। इसलिए राजा की सुख समृद्धि के लिए प्रथम प्रजा का सुखी और समृद्ध होना आवश्यक है।

अतः प्रजा पर कर वसूली में बल प्रदर्शन की अपेक्षा पहले उनकी कठिनाइयों को दूर करना तथा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करके उन्हें प्रसन्न करना अनिवार्य है, तभी राजा भी स्थिर, सुखी तथा समृद्ध हो सकता है।

विशेष– १. 'क्षितिधेनुम्' में रूपक अलंकार का प्रयोग हुआ है। लक्षण–

तद् रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः

२. प्रजा की बछड़े के साथ तथा पृथिवी की कल्पलता के साथ उपमा दी गई है। अतः उपमा अलंकार–

प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधीयते।

३. अत्यन्त सुन्दर राजनीतिक तथ्य को उद्घाटित किया गया है।

४. यहाँ वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण–

---

१. नानाफलैः– अनेक फलों के द्वारा

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

५. पृथिवी रूपी गाय से धन रूपी दूध प्राप्त करने के लिए प्रजा रूपी बछड़े को प्रसन्न करना अत्यावश्यक है। तभी भूमि कल्पलता के समान मनोवांछित फल प्रदान करेगी।

६. राजा के लिए अत्यन्त सुन्दर ढंग से नीतिगत उपदेश दिया गया है।

७. तेन पद का प्रयोग तृतीया अथवा चतुर्थी दोनों अर्थों की अभिव्यक्ति में स्वीकार किया जा सकता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

१. दोग्धुम् इच्छसि, दुधुक्षसि। √दुह् + सन् + सिप् (लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन)

२. परि + √पुष् + शानच् (सप्तमी विभक्ति, एकवचन) परिपोष्यमाणे

३. क्षितिः एव धेनुः क्षितिधेनुः ताम् क्षितिधेनुम् अथवा

४. क्षितिरूपा धेनुः ताम्

५. √पुष् + सिप् (लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन) पुषाण

६. तेन + अद्य (दीर्घ, अकः सवर्णे दीर्घः) तेनाद्य

७. तस्मिन् + च (व्यञ्जन, नश्छव्यप्रशान्, स्तोःश्चुना श्चुः)

८. कल्पलता + इव (गुण, आद् गुणः)

सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च,
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च,
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा॥४७॥

अन्वय- नृपनीतिः वाराङ्गना इव सत्या अनृता च, परुषा प्रियवादिनी च, हिंस्रा दयालुः अपि, अर्थपरा वदान्या च, नित्यव्यया, प्रचुर-नित्य-धनागमा च अनेक रूपा (भवति)

अनुवाद- राजाओं की नीति वेश्या के समान, सत्य और (कहीं) असत्य, कठोर और (कहीं) प्रिय बोलने वाली, हिंसक (और) (कहीं कहीं) दयालु भी, (कहीं) धन की लोभी और कहीं उदार, नित्य व्यय करने वाली और (कहीं) नित्य प्रचुर मात्रा में धनागम (के कारण) अनेक रूपों वाली (होती है)।

व्याख्या- राजनीति वेश्या के समान अनेक रूपों वाली होती है, जिस प्रकार वेश्या कभी सच बोलती है तो कभी अवसर पड़ने पर झूठ भी बोलती है। कभी वह अत्यन्त कठोरतापूर्वक व्यवहार करती है तो कभी अत्यन्त मधुर भाषण करते हुए प्रेमपूर्वक

वार्तालाप करती है। कभी वह हिंसा का सहारा लेती है तो कभी अत्यन्त दयालुता के साथ व्यवहार करती है।

इसी प्रकार कभी उसकी गिद्ध दृष्टि केवल धन के प्राप्त करने में ही रहती है, तो कभी वह दानादि के द्वारा अत्यन्त उदारता का परिचय देती है। कभी वह अत्यधिक धन का खर्च करती है तो कहीं उसे अनेक मार्गों से धन की प्राप्ति होती है।

ठीक इसी प्रकार राजनीति, राजाओं की नीति भी अनेक रूपों वाली होती है। वह भी कभी तो अवसर के अनुकूल झूठ बोलती है तो कभी सच बोलती है। कोई भी राजनीतिज्ञ कभी भी एक जैसे रूप एवं सिद्धान्त वाला नहीं होता। कभी वह अत्यन्त कठोरता के साथ आचरण करता है, तो कभी वह उदारता की सभी सीमाओं को लांघ जाता है, ऐसा लगता है कि इससे अधिक उदार इस दुनिया में कोई नहीं हो सकता है। कभी अपनी बात मनवाने के लिए वह अनेक लोगों को क्षणभर में कटवा डालता है तो अनेक बार ऐसे अनेक कार्य करता है जिनसे उसकी दयालु हृदय होने का प्रणाम मिलता है।

विशेष– १. यहाँ राजनीति को वेश्या के समान अनेक रूपों वाला प्रतिपादित किया गया है।

२. राजनीति के लिए, इसीलिए कहा जाता है कि यह तो गिरगिट के समान क्षण-क्षण में अपने रंग बदलती है।

३. राजनीति की उपमा वेश्या से दी गई है इसलिए उपमालंकार

प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधीयते।

४. शिखरिणी छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है–

रसैः रुद्रैश्छिन्नायमनसभलागः शिखरिणी।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. सत्या च अनृता च (द्वन्द्व समास) सत्यानृता

२. न ऋता इति अनृता (नञ् समास) सत्य + अच् + टाप् = सत्या

३. प्रि + √वद् + णिनि = प्रियवादिन् ङीप्, प्रियवादिनी

४. प्रियम् वदति इति, प्रियवादिनी

५. नित्यं व्ययो यस्याः सा नित्यव्यया (बहुव्रीहि)

६. प्रचुरं नित्यं धनागमः यस्यां सा, प्रचुरनित्यधनागमा (बहुव्रीहि)

७. अनेकानि रूपानि यस्याः सा, अनेक रूपा (बहुव्रीहि)

८. √हिंस् + र + टाप् = हिंस्रा

९. वारस्य जनसमूहस्य अङ्गना स्त्री या सा (बहुव्रीहि) वाराङ्गना

१०. √पृ + उषन् + टाप् = परुषा

११. √वद् + आन्य + टाप् = वदान्या

१२. वाराङ्गना + इव (गुण, आद् गुणः) वाराङ्गनेव

१३. धनस्य + आगमः = धनागमः (षष्ठी तत्पुरुष) (दीर्घ - अकः सवर्णे दीर्घः)

१४. नृपनीतिः + अनेकरूपा (विसर्गः ,ससजुषो रुः) नृपनीतिरनेकरूपा

१५. दयालुः + अपि (विसर्ग, ससजुषो रुः) दयालुरपि

१६. च + अर्थपरा (दीर्घ, अकः सवर्णे दीर्घः) चार्थपरा

आज्ञा[1] कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां,
दानं भोगो मित्रसंरक्षणञ्च।
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः,
कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण॥४८॥

अन्वय– येषाम् (पार्थिवानाम्) आज्ञा, कीर्तिः, ब्राह्मणानाम् पालनम्, दानम्, भोगः मित्रसंरक्षणम् च एते षड्गुणाः प्रवृत्ताः न, तेषाम् पार्थिवोपाश्रयेण कः अर्थः ?

अनुवाद– जिन (राजाओं के) पास आज्ञा, कीर्ति, ब्राह्मणों का पालन, दान, भोग और मित्रों की रक्षा करना ये छः गुण विराजमान नहीं (हैं), उन राजाओं के आश्रय से क्या लाभ ?

व्याख्या– जिन राजाओं की आज्ञा का उनकी प्रजा पालन नहीं करती हो, जिसका आदेश प्रभावशाली न हो। जिनकी उदारता एवं प्रजापालन विषयककीर्ति दिग्दिगन्त में प्रसारित नहीं हो रही हो, जो विद्वान् एवं ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणों का ठीक प्रकार पालन नहीं करते हों, जो याचकों को पर्याप्त धनराशि दान नहीं देते हों, जो अपने ऐश्वर्यों का उपभोग नहीं करते हों और अपने मित्रों और हितैषियों की पर्याप्त सुरक्षा नहीं करते हों ऐसे राजाओं के आश्रित रहने, उनकी सेवा करने से क्या लाभ अर्थात् ऐसे राजाओं के राज्य में, उनकी सेवा में रहना पूर्णतया निरर्थक है जिनमें उपरोक्त छः गुण नहीं है।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक में उत्तम राजा के छः श्रेष्ठ गुणों का परिगणन किया गया है।

२. यहाँ अप्रत्यक्ष रूप में राजा को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, इस ओर भी संकेत किया गया है।

३. गुणवान् राजा ही सेवा के योग्य है, इस बात को अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया गया है।

४. प्रस्तुत श्लोक में शालिनी छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है–

शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः।

५. अर्थापत्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

---

१. विद्या

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. पृथ्वी + अण् = पार्थिवः, पार्थिवस्य उपाश्रयेण (षष्ठी तत्पुरुष)
२. √पाल् + ल्युट् = पालनम् (नपु., प्रथमा विभक्ति, एकवचन)
३. √भुज् + घञ् = भागः (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)
४. मित्राणाम् संरक्षणम् (षष्ठी तत्पुरुष) मित्रसंरक्षणम्
५. सम् + √रक्ष् + ल्युट् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) संरक्षणम्
६. प्र + √वृत् + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) प्रवृत्ताः
७. उप + आ + √श्रि + अच् (पुल्लिंग, तृतीया विभाक्ति, एकवचन) उपाश्रयेण
८. आ + √ज्ञा + अङ् + टाप् = आज्ञा
९. √कृत् + क्तिन्= कीर्तिः

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद् वा धनं,
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम्।
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः,
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम्॥४९॥

अन्वय– धात्रा यत् स्तोकम् महत् वा धनम् निजभालपट्टलिखितम् (अस्ति) तत् मरुस्थले अपि नितराम् प्राप्नोति, ततः अधिकम् मेरौ (अपि) न। तत् धीरः भव, वित्तवत्सु वृथा कृपणाम् वृत्तिम् मा कृथाः। पश्य, घटः कूपे पयोनिधौ अपि तुल्यम् जलम् (एव) गृह्णाति।

अनुवाद– विधाता ने जो थोड़ा अथवा अधिक धन अपने मस्तकपटल पर लिख दिया (है), वह (मनुष्य) मरुस्थल में भी आसानी से प्राप्त कर लेता है, उससे अधिक सुमेरु पर्वत पर (भी) नहीं (पाता)। इसलिए धैर्यवान् बनो, धनवानों के प्रति व्यर्थ में दीनता का व्यवहार मत करो। देखो, घड़ा कुएँ (और) समुद्र में भी समान ज़ल (ही) प्राप्त करता है।

व्याख्या– व्यक्ति को कभी भी अधिक धन प्राप्त करने के लिए धनवानों के सामने दीनहीन वृत्ति का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। इसी बात को सोदाहरण समझाते हुए कवि कहता है कि–

विधाता अर्थात् ब्रह्मा ने मनुष्य के भाग्य पटल पर जितना भी, थोड़ा अथवा अधिक, धन प्राप्ति का उल्लेख कर दिया है, उसे उससे अधिक अथवा कम किसी भी स्थिति में प्राप्त नहीं होगा, भले ही व्यक्ति मरुस्थल में ही क्यों न हो अथवा सोने की खान सुमेरु पर्वत पर ही क्यों न पहुँच जाए।

इसलिए व्यक्ति को सदैव धैर्य का पालन करना चाहिए, धनाढ्यों के प्रति अधिक प्राप्त करने के लोभ में अपनी दीनहीन वृत्ति प्रदर्शित नहीं करनी चाहिए।

पुनः कवि घड़े का उदाहरण देते हुए कहता है कि जरा घड़े को देखो, यदि उसे पानी लेने के लिए कुएँ में डुबाया जाए या फिर उसे समुद्र में डुबाया जाए। दोनों ही स्थितियों में वह समान ही जल तो ग्रहण करेगा ऐसा तो नहीं कि अथाह जलराशि वाले समुद्र से उसे अधिक जल प्राप्त हो जाएगा। इसलिए इस सिद्धान्त को समझते हुए व्यक्ति को संतोष ही धारण करना चाहिए, बहुत अधिक लोभ एवं दीनता उचित नहीं है।

विशेष– १. मनुष्य को धन-प्राप्ति के लालच में अपने स्वाभिमान को कभी नहीं भूलना चाहिए, अपितु धैर्य धारण करना चाहिए।

२. प्रस्तुत श्लोक में दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग हुआ है– लक्षण–

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।।

३. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण–

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √धा + तृच् = धातृ (तृतीया विभक्ति, एकवचन) धात्रा

२. वित्त + मतुप् = वित्तवत् (सप्तमी विभक्ति, एकवचन) वित्तवत्सु

३. पयसाम् निधिः पयोनिधिः, तस्मिन् पयोनिधौ (षष्ठी तत्पुरुष)

४. पयस् + नि + √धा + कि (पुल्लिंग, सप्तमी विभक्ति, एकवचन)

५. यत् + धात्रा (व्यञ्जन - झलां जशोऽन्ते) यद् धात्रा

६. मरुस्थले + अपि (पूर्वरूप - एङः पदान्तादति) मरुस्थलेऽपि

७. न + अधिकम् (दीर्घ, अकः सवर्णे दीर्घः) नाधिकम्

८. धीरः + भव (विसर्ग - हशि च) धीरोभव

९. पयोनिधौ + अपि (अयादि, एचोऽयवायावः) पयोनिधावपि

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव कर्म,
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव,
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्।।५०।।

अन्वय– तानि अविकलानि इन्द्रियाणि, तत् एव कर्म, सा (एव) अप्रतिहता बुद्धिः, तत् एव वचनम्, अर्थोष्मणा विरहितः स एव पुरुषः क्षणेन अन्यः भवति, इति एतत् तु विचित्रम् (अस्ति)।

अनुवाद– वे (ही) स्वस्थ इन्द्रियाँ हैं, वही कर्म (है), वही अप्रतिहत बुद्धि (है), वही वचन (है), धन की गर्मी से रहित वहीं पुरुष क्षणभर में अन्य हो जाता है, यह तो (अत्यन्त) विचित्र (हैं)।

व्याख्या– धन की प्राप्ति और धन का अभाव दोनों ही व्यक्ति में महान् परिवर्तन लाने वाले होते हैं, हालाँकि व्यक्ति की इन्द्रियों में कोई परिवर्तन नहीं होता जैसी पहले स्वस्थ थी वैसी सी अब भी हैं। काम भी पहले जैसा ही करता है, कार्यशैली में भी कोई परिवर्तन नहीं आया। साथ ही बुद्धि भी वैसा ही कार्य करती है, उसकी तीक्ष्णता में भी कोई बदलाव नहीं आया। वाणी भी उसी प्रकार भाषण करती है, किन्तु यदि अकस्मात् व्यक्ति के पास से धन चला जाता है तो उस धन की गर्मी से वहीं व्यक्ति क्षणभर में ही दूसरा हो जाता है, उसका तो मानो सारा संसार ही बदल जाता है। यह कितनी विचित्र अर्थात् आश्चर्यजनक बात है।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक नीतिशतकम् की सभी प्रतियों में प्राप्त नहीं होता है।

२. धन में भी एक अनोखी गर्मी होती है जो व्यक्ति में अद्भुत गति पैदा कर देती है।

३. धन की महिमा संस्कृत साहित्य में अनेकशः अनेक कवियों द्वारा वर्णित की गई है।

४. प्रस्तुत श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है, लक्षण इस प्रकार है—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

५. धनवान् का व्यवहार और निर्धन का व्यवहार, शरीर एक जैसा होने पर भी अत्यन्त भिन्न होता है।

६. काव्यलिंग अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. तानि + इन्द्रियाणि + अविकलानि (दीर्घ, अकः सवर्णे दीर्घः) (यण्, इकोयणचि)

२. तत् + एव (व्यञ्जन, झलां जशोऽन्ते)

३. अर्थ + उष्मणा (गुण – आद्गुणः)

४. तु + अन्यः (यण् – इकोयणचि)

५. भवति + इति (दीर्घ – अकः सवर्णे दीर्घः)

६. बुद्धिः + अप्रतिहता (विसर्ग – ससजुषो रुः)

७. न विकलानि इति (नञ् समास) अविकलानि

८. न प्रतिहता इति (नञ् समास) अप्रतिहता

९. अर्थस्य उष्मणा (षष्ठी तत्पुरुष) अर्थोष्मणा

१०. प्रति + √हन् + क्त + टाप् (प्रतिहता, न प्रतिहता, इति, अप्रतिहता)

दुर्जनपद्धतिः

अकरुणत्वमकारण विग्रहः परधनेपरयोषिति च स्पृहा।
सुजन बन्धुजनेष्वसहिष्णुता, प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम्।।५१।।

अन्वय– अकरुणत्वम्, अकारणविग्रहः, परधने, परयोषिति च स्पृहा, सुजनबंधुजनेषु असिहष्णुता, इदम् दुरात्मनाम् प्रकृतिसिद्धम् हि।

अनुवाद– निर्दयता, अकारण झगड़ा, दूसरे के धन में तथा दूसरे की स्त्री में इच्छा करना, सज्जन और बन्धुजनों में सहनशीलता का अभाव, यह दुष्टों को स्वभाव से ही प्राप्त होते हैं।

व्याख्या– दुष्ट प्रकृति के लोगों में स्वभाव से ही ये बातें देखने को मिलती हैं, अर्थात् ये सब उन्हें सिखाने की आवश्यकता नहीं होती, ये तो मानो उन्हें जन्म ः ही प्राप्त होती हैं जैसे –

दुष्ट लोग जन्म से ही दयाभाव से रहित होते हैं, उनका हृदय अत्यन्त कठोर होता है, व्यर्थ में बिना किसी कारण के झगड़ा करने को सदैव तत्पर रहते हैं। दूसरों का धन और पराई स्त्री को छिनने के लिए सदैव सोचते रहते हैं। इनका सज्जन लोगों तथा अपने भाई बन्धुओं के साथ व्यवहार अत्यन्त कठोर होता है अर्थात् इनका सहयोग करने की इनमें कभी भी प्रवृत्ति नहीं होती है।

विशेष– १. दुरात्मा व्यक्ति के स्वभाव का अत्यन्त सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है।

२. दुतविलम्बित छन्द, लक्षण इस प्रकार है—

दुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।

३. अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. नास्ति करुणा यस्य सः, अकरुणः , तस्य भावः अकरुणत्वम्, न करुणत्वम् (नञ् समास)

२. न विद्यते कारणं यस्मिन् सः अकारणः, अकारणश्चासौ विग्रहः अकारणविग्रहः

३. वि + √ग्रह् + अप् = विग्रहः

४. √स्पृह् + अ + टाप् = स्पृहा। √सिध् + क्त = सिद्धम्

५. न सहिष्णु असहिष्णु (नञ् समास) तस्य भावः असहिष्णुता

६. √सह् + इष्णुच् + तल् + टाप् = सहिष्णुता

७. सुजनबंधुजनेषु + असहिष्णुता (यण्–इकोयणचि) = सुजनबंधुजनेष्वसहिष्णुता

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि[१] सन्।
मणिना भूषितः[२] सर्पः किमसौ न भयङ्करः॥५२॥

---

१. भूषितः
२. अलंकृतः

अन्वय– विद्यया अलङ्कृत: अपि सन् दुर्जन: परिहर्तव्य:। किम् मणिना भूषित: असौ सर्प: भयंकर: न (भवति)।

अनुवाद– विद्या से अलंकृत होता हुआ भी दुष्ट त्यागने योग्य है। क्या मणि से भूषित वह सर्प भयंकर नहीं (होता है)।

व्याख्या– यदि कोई व्यक्ति दुष्ट स्वभाव का है तो भले ही वह विद्वान् ही क्यों न हो, उसको छोड़ देना ही हितकर है अर्थात् विद्वान् दुष्ट की संगति को भी व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए। इस प्रसंग में कवि मणि से सुशोभित सर्प का उदाहरण देते हुए कहता है कि ऐसा सर्प जिसके मस्तक पर मणि विराजमान है क्या हानि कर नहीं होता है अर्थात् होता ही है।

विशेष– १. यहाँ विद्वान् दुष्ट की तुलना मणिधारी सर्प से की गई है।

२. जिस प्रकार मणिधारी सांप और भी अधिक भयंकर एवं हानि पहुँचाने वाला होता है, ठीक उसी प्रकार विद्या से युक्त दुष्ट अत्यन्त हानिकर होता है। अत: त्याज्य है।

३. अनुष्टुप् छन्द। लक्षण पूर्ववत्।

४. प्रथम चरण और द्वितीय चरण में सम्बन्ध न होने से उपमा की परिकल्पना करने के कारण निदर्शनालंकार—

अभवन् वस्तुसम्बन्ध: उपमापरिकल्पक: निदर्शना।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √अस् + शतृ (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = सन्

२. परि + √हृ + तव्यत् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = परिहर्तव्य:

३. √भूष् + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = भूषित:

४. अलम् + √कृ + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = अलंकृत:

५. भयम् करोति इति भयंकर:

६. √विद् + क्यप् + टाप् = विद्या तया विद्यया (तृतीया विभक्ति, एकवचन)

७. √दुष् + क्त = दुष्ट:, दुष्ट: जन:, दुर्जन:

८. √सृप् + अच् = सर्प:

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ[१] दम्भ: शुचौ कैतवं,
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्ति: स्थिरे,
तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कित:॥५३॥

---

१. व्रतशुचौ

अन्वय– (दुर्जनैः गुणिनाम्) ह्रीमति जाड्यम्, व्रतरुचौ दम्भः, शुचौ कैतवम्, शूरे निर्घृणता, मुनौ विमतिता, प्रियालापिनि दैन्यम्, तेजस्विनि अवलिप्तता, वक्तरि मुखरता, स्थिरे अशक्तिः गण्यते। तत् गुणिनाम् कः सः गुणः नाम भवेत्, यः दुर्जनैः न अङ्कितः।

अनुवाद– (दुर्जनों के द्वारा गुणवान् पुरुषों की) लज्जा में मूर्खता, व्रत की रुचि में पाखण्ड, पवित्रता में धूर्तता, शौर्य में निर्दयता, चुप रहने में बुद्धिहीनता, प्रिय बोलने में दीनता, तेजस्विता में अभिमान, वक्तृत्व में वाचालता, स्थिरचित्त (शान्ति) में निर्बलता समझी जाती है। तो गुणवानों का कौन सा वह गुण हो सकता है, जो दुर्जनों के द्वारा कलंकित नहीं किया गया हो।

व्याख्या– दुर्जनों का स्वभाव होता है कि वे सज्जनों से ईर्ष्या के कारण उनके गुणों को भी अवगुण के रूप में देखते हैं, इसी बात का प्रतिपादन करते हुए कवि कहता है कि यदि सज्जन संकोची स्वभाव के होते हैं तो दुर्जन उन्हें मूर्ख कहकर उनका उपहास उड़ाते है, यदि उनकी रुचि व्रतोपवासादि में रहती है तो उन्हें पाखण्डी कहा जाता है, ठीक इसी प्रकार यदि वे पवित्रता का आचरण करते हैं तो उन्हें धूर्त कहा जाता है।

इसी प्रकार यदि सज्जन शूरवीर होते हैं तो उन्हें निर्दयी, निरंकुश कहकर उनकी प्रताड़ना की जाती है और यदि वे चुप रहते है तो उन्हें बुद्धिहीन है, ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार सज्जनों के मृदुभाषी होने पर उन्हें दीनहीन की संज्ञा दी जाती है और यदि वे तेजस्वी स्वभाव के होते हैं तो उन्हें घमण्डी कहा जाता है तथा यदि वे भाषण कला में निपुण होते हैं तो उन्हें बकवादी कहकर उनकी उपेक्षा की जाती है। इसी प्रकार यदि वे शान्त चित्त रहते है तो उन्हें कमजोर कहकर प्रताडित किया जाता है।

इस प्रकार जरा आप ही बताइये कि सज्जनों का ऐसा कौन सा गुण है जिसे दुष्ट लोगों ने दुर्गुण के रूप में प्रस्थापित करके कलंकित न किया हो अर्थात् कोई नहीं।

विशेष– १. दुर्जनों का स्वभाव होता है कि वे सज्जनों से स्वाभाविक वैर के कारण उनकी प्रशंसा को सहन नहीं कर पाते है। अतः आत्मतुष्टि के लिए उन्हें उनके गुणों में भी दोष ही नजर आते हैं।

२. इस श्लोक में कवि ने दुर्जनों का अत्यन्त सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया है, क्योंकि वे सदैव सज्जनों की निन्दा ही करते रहते हैं।

३. शार्दूलविक्रीडित छन्द है, लक्षण इस प्रकार है–

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

४. यहाँ घृणा पद दया अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

५. सम्भावना में विधिलिंग लकार का प्रयोग हुआ है (भवेत्)

६. समुच्चय अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. ह्री + मतुप् (सप्तमी विभक्ति, एकवचन) ह्रीमति

२. √जड् + ष्यञ् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) जाड्यम्

३. व्रतेषु रुचिः यस्य सः (बहुव्रीहि) व्रतरुचिः तस्मिन् व्रतरुचौ

४. कितव + अण् = कैतव (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) कैतवम्

५. निर्गता घृणा यस्मात् निर्घृणः (बहुव्रीहि) तस्य भावः निर्घृणता

६. प्रिय + आ + √लप् + णिनि (सप्तमी विभक्ति, एकवचन) प्रियालापिनि

७. दीन + ष्यञ् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) दैन्यम्

८. अव + √लिप् + क्त = अवलिप्त + तल् + टाप् = अवलिप्तता

९. √वच् + तृच् = वक्तृ (सप्तमी विभक्तिं, एकवचन) वक्तरि

१०. मुखर + तल + टाप् = मुखरता

११. न शक्तिः इति अशक्तिः (नञ् समास)

१२. अङ्क + इतच् = अङ्कित (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

१३. तेजस्विनि + अवलिप्तता (यण् – इकोयणचि)

१४. वक्तरि + अशक्तिः (यण् – इकोयणचि)

१५. यः + दुर्जनैः + न + अंकितः (विसर्ग – हशि च, ससजुषो रुः) (दीर्घ – अकः सवर्णे दीर्घः)

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः,
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्यं यदि किं निजैः[1] सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः,
सद्-विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना॥५४॥

अन्वय– चेत् लोभः (अस्ति) अगुणेन किम्, यदि पिशुनता अस्ति, पातकैः किम्, चेत् सत्यम् च (अस्ति) तपसा किम्, यदि शुचि मनः अस्ति तीर्थेन किम्, यदि सौजन्यम् निजैः किम्, यदि सुमहिमा अस्ति मण्डनैः किम्, यदि सद् विद्या अस्ति धनैः किम्, यदि अपयशः अस्ति मृत्युना किम्।

अनुवाद– यदि (व्यक्ति के पास) लोभ (है तो) दुर्गुणों से क्या (लाभ)? यदि चुगलखोरी है तो (अन्य) पापों से क्या? और यदि सत्य (है) (तो) तपस्या से क्या (लाभ), यदि पवित्र मन है (तो) तीर्थों से क्या (प्रयोजन), यदि सज्जनता है (तो) आत्मीयों से क्या? यदि सुयश है (तो) आभूषणों से क्या, यदि श्रेष्ठ विद्या है (तो) धनों से क्या (और) यदि अपकीर्ति है (तो) मृत्यु से क्या?

व्याख्या– लोभ व्यक्ति का सबसे बड़ा दुर्गुण है यदि वह उसके पास है तो फिर उसे किसी अन्य दुर्गुण की आवश्यकता नहीं है। यदि व्यक्ति चुगलखोर है तो उसे किसी दूसरे पाप करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि चुगलखोरी सबसे बड़ा पाप है और

---

१. जनैः

यदि व्यक्ति सत्यभाषण करता है तो वह सबसे बड़ा तपस्वी है, क्योंकि सत्य बोलना सबसे बड़ी तपस्या है।

इसके अतिरिक्त यदि व्यक्ति का मन पवित्र है तो उसे किसी तीर्थ पर जाने की आवश्यकता नहीं है, पवित्र मन ही श्रेष्ठ तीर्थ है। यदि व्यक्ति सज्जन स्वभाव वाला है तो उसे आत्मीयजनों की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसके स्वभाव के कारण सभी लोग उसके अपने हो जाएँगें। यदि व्यक्ति प्रशंसनीय कीर्ति वाला है तो उसे कोई आभूषण धारण करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सुयश स्वयं में सबसे बड़ा आभूषण है।

ठीक इसी प्रकार यदि व्यक्ति के पास श्रेष्ठ विद्या है तो उसे किसी भी प्रकार के धनसंग्रह की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सद् विद्या सबसे बड़ा धन है। कहा भी है. विद्याधनं सर्वधनं प्रधानम्।

अन्त में कवि कहता है कि यदि व्यक्ति अपकीर्ति वाला है तो उसे मृत्यु की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जिस व्यक्ति का संसार में अपयश फैला हुआ है वह तो जीवित रहते हुए भी मरा हुआ है।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक में लोभ को सबसे बड़ा दुर्गुण, चुगलखोरी को सबसे बड़ा पाप, सत्य-भाषण को सबसे बड़ी तपस्या, पवित्र मन को सबसे बड़ा तीर्थ, सुयश को सबसे बड़ा आभूषण, श्रेष्ठ विद्या को उत्तम धन तथा अपयश को मृत्यु बताया गया है।

२. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण–

सूर्याश्वैर्मजसास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

३. किम् पद का प्रयोग यहाँ निरर्थकता प्रतिपादित करने के लिए हुआ है।

४. अर्थापत्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. न गुणः इति (नञ् समास) तेन अगुणेन
२. पिशुन + तल् + टाप् = पिशुनता
३. सुजन + ष्यञ् (नपुं. प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = सौजन्यम्
४. महत् + इमनिच् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) महिमा
५. शोभनः महिमा सुमहिमा (कर्मधारय)
६. √मण्ड् + ल्युट् (नपुं. तृतीया विभक्ति, बहुवचन) मण्डनैः
७. √पत् + णिच् + ण्वुल् = पातकः तैः पातकैः
८. लोभः + चेत् + अगुणेन (स्तोःश्चुना श्चुः, झलां जश झशि)
९. यदि + अस्ति = (यण् - इकोयणचि - इ - य्)
१०. धनैः+अपयशः+ यदि (:-र्-ससजुषो रुः,:-उ-ओ)–(हशि च, आद् गुणः)

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी,
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतसज्जनो,
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे॥५५॥

अन्वय– दिवसधूसरः शशी, गलितयौवना कामिनी, विगतवारिजम् सरः, स्वाकृतेः अनक्षरम् मुखम्, धन- परायणः प्रभुः, सततदुर्गतः सज्जनः, नृपाङ्गणगतः खलः, मे मनसि (एते) सप्तशल्यानि (सन्ति)।

अनुवाद– दिन में मलिन (कान्ति) चन्द्रमा, ढ़ले यौवनवाली सुन्दरी, कमलरहित सरोवर, सुन्दर आकृति वाला निरक्षर मुख, धन (बटोरने) में लगा स्वामी, निरन्तर दुर्गति को प्राप्त सज्जन, राजसभा में गया हुआ दुष्ट, मेरे मन में (ये) सात काँटे (निरन्तर खटकते हैं)।

व्याख्या– कवि को ये सात बातें काँटे के समान अत्यन्त कष्टकारी लगती हैं— दिन के तेज के कारण मलिन हुआ चन्द्रमा, ऐसी सुन्दर स्त्री जिसका यौवन अब आयु के बढ़ जाने से ढ़ल गया है अर्थात् कम हो गया है, ऐसा सरोवर जिसके कमल अब समाप्त हो गए हैं। ऐसा कंजूस स्वामी जो केवल धन-संग्रह में ही लगा हुआ है, अपने सेवकों का तथा अन्यों का उसे तनिक भी ध्यान नहीं है।

ऐसा सज्जन जो अपने गुणों के कारण ही दुर्जनों द्वारा अत्यन्त कष्टकारी स्थिति में पहुँचा दिया गया हो, ऐसा दुष्ट जो येनकेन प्रकारेण राजसभा में सम्मानजनक स्थान पर नियुक्त हो गया हो, क्योंकि उसके वहाँ जाने से अन्य लोग अनेक परेशानियों से घिर जाएँगे।

विशेष– १. कांटा जिस प्रकार चुभने पर वेदना, कष्ट प्रदान करता है वैसे ही ये बातें देखकर असह्य मानसिक वेदना की कवि को अनुभूति होती है, यह अभिप्राय है।

२. पृथिवी छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।

३. दीपक अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. दिवसे धूसरः (सप्तमी तत्पुरुष) दिवसधूसरः
२. शश + इनि (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) शशी
३. गलितं यौवनं यस्याः सा (बहुव्रीहि) गलितयौवना
४. √गल् + क्त = गलितः
५. युवन् + अण् = यौवन
६. काम + इनि + ङीप् = कामिनी

७. विगतानि वारिजानि यस्मात् तत् (बहुव्रीहि) विगतवारिजम्

८. न अक्षरम् अनक्षरम् (नञ् समास) अक्षररहितम् इति वा

९. धने परायणः (सप्तमी तत्पुरुष) धनपरायणः

१०. वारि + √जन् + ड = वारिजम्

११. दुष्टः गतिः दुर्गतिः, सततं दुर्गतिः यस्य सः (बहुव्रीहि) सततदुर्गतिः

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम्।
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः।।५६।।

अन्वय– चण्डकोपानाम् भूभुजाम् कश्चित् नाम आत्मीयः न (भवति), स्पृष्टः पावकः जुह्वानम् होतारम् अपि दहति।

अनुवाद– भयानक क्रोध वाले राजाओं का कोई भी अपना नहीं होता। स्पर्श किया गया अग्नि हवन करने वाले होता को भी जलाता है।

व्याख्या– जिन राजाओं का क्रोध अत्यन्त प्रचण्ड होता है, उनका कोई भी व्यक्ति आत्मीय अर्थात् निकटस्थ नहीं होता, क्योंकि उसे कब क्रोध आ जाएगा यह कुछ भी निश्चित नहीं होता तथा उसके क्रोधित होने पर व्यक्ति के प्राण भी जा सकते हैं। इसलिए कोई भी उसके निकट जाने तथा उसका हित सोचने का साहस नहीं कर पाता है।

इसी प्रसंग में अग्नि का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है कि क्रोधी राजा अग्नि के समान होते हैं, जो हवन करने वाले होता के हाथ को ही स्पर्श किए जाने पर जला देता है, हालाँकि वह होता उसी को हवि देकर प्रसन्न करता है।

विशेष– १. यहाँ क्रोधी राजा को अग्नि के समान बताया गया है।

२. प्रस्तुत श्लोक में 'अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयंकरः' इन भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है।

३. निदर्शना अलंकार का प्रयोग हुआ है, क्योंकि द्वितीय पंक्ति की उपमा के रूप परिकल्पना करनी पड़ती है—

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमा परिकल्पकः निदर्शना।

४. अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण पूर्ववत् है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. चण्डः कोपः यस्य सः, चण्डकोपः तेषाम् (बहुव्रीहि) चण्डकोपानाम्।

२. √कुप् + घञ् = कोपः

३. भुवं भुञ्जन्ति इति भूभुजः, तेषाम् - भूभुजाम्

४. भू + √भुज् + क्विप् (षष्ठी विभक्ति, बहुवचन)

५. आत्मन् + छ (पुलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = आत्मीय

६. √पू + ण्वुल् (पुलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = पावकः

७. √स्पृश् + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

८. √हु + शानच् (पुल्लिंग, द्वितीया विभक्ति, एकवचन) = जुह्वानम्

९. √हु + तृच् = होतृ (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

१०. √दह् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) दहति

मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलो जल्पको वा,
धृष्टः पार्श्वे वसति च सदा दूरतश्चाप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः,
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।।५७।।

अन्वय– (सेवकः) मौनात् मूकः, प्रवचन-पटुः चाटुलः जल्पकः वा, सदा पार्श्वे वसति च धृष्टः, दूरतः च (वसति) अप्रगल्भः, क्षान्त्या भीरुः, यदि सहते न प्रायशः अभिजातः न (इति कथ्यते)। (अतः) सेवाधर्मः योगिनाम् अपि अगम्यः, परम गहनः भवति।

अनुवाद– (सेवक) चुप रहने से गूँगा, बोलने में निपुण होने पर, बहुत बोलने वाला या बकवादी और सदैव समीप रहने पर ढ़ीठ, और दूर (रहने पर) न बोलने वाला क्षमाशील होने से डरपोक, यदि (अन्याय आदि को) सहन नहीं करता (तो) प्रायः सत्कुलोत्पन्न नहीं है (ऐसा कहा जाता है)। (अतः) सेवाधर्म योगियों के लिए भी अगम्य (और) अत्यन्त दुर्गम होता है।

व्याख्या– किसी की सेवा करने का काम अत्यन्त कठिन है तथा सबके वश की बात नहीं है। यहाँ तक कि यदि योगी भी इस कार्य में निपुणता प्राप्त करना चाहें तो उन्हें भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकेगी, इसी का कारण बताते हुए कवि कहता है कि सेवक यदि अपने स्वामी के सामने उसका सम्मान करते हुए चुप रहता है तो स्वामी उसे मुँह में जबान नहीं है, ऐसा कहकर फटकार लगाता है और यदि वह अपनी योग्यता के कारण मालिक की बातों का बराबर जबाव देता है तो उसे बकवादी, फालतू बोलने वाला कहकर उसका तिरस्कार किया जाता है।

इसी प्रकार यदि सेवक सेवाभाव के कारण स्वामी के आसपास रहने का प्रयास करता है तो उसे ढ़ीठ कहा जाता है और यदि वह दूर रहता है तो जरा भी अक्ल नहीं है, कहाँ रहना चाहिए, कहाँ नहीं, यह कहकर उसे दोषी करार दिया जाता है।

ठीक इसी प्रकार यदि सेवक स्वामी के किसी भी प्रकार से डांटने आदि पर भी उसे क्षमापूर्वक पलटकर जवाब नहीं देता तो डरपोक है, ऐसा कह दिया जाता है और यदि वह स्वामी आदि के द्वारा किए गए अन्याय अथवा दुर्व्यवहार को सहन न करता हुआ प्रतिकार करता है तो उसके लिए कहा जाता है कि यह सेवकों के श्रेष्ठकुल में उत्पन्न नहीं हुआ है। इसप्रकार सेवक के लिए सेवाकार्य करना अत्यन्त कठिन है।

विशेष– १. सेवाकार्य को अत्यन्त कठिन बताया गया है।

२. वस्तुतः स्वामी का व्यवहार सेवक के लिए प्रायः इसी प्रकार का होता है।

३. मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

मन्दाक्रान्ता जलधिःषड् गैम्भौ नतौ ताद् गुरू चेत्।

४. 'वसति' पद यहाँ शतृ प्रत्ययान्त, सप्तमी विभक्ति के रूप में प्रयुक्त हुआ है, क्रिया पद, लट् लकार के रूप में नहीं।

५. अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. मुनेर्भावः मौनम्। मुनि + अण् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) मौनात्

२. प्रवचने पटुः, प्रवचन पटुः (सप्तमी तत्पुरुष)

३. √जल्प् + ण्वुल् = जल्पकः (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

४. √वस् + शतृ = वसति (सप्तमी विभक्ति, एकवचन)

५. √धृष् + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = धृष्टः

६. न प्रगल्भः इति (नञ् समास) प्र + √गल्भ् + क्त = अप्रगल्भः

७. √क्षम् + क्तिन् = क्षान्त्या (स्त्रीलिंग, तृतीया विभक्ति, एकवचन).

८. अभि + √जन् + क्त = अभिजातः (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

९. √गह् + ल्युट् = गहन

१०. न गम्यः इति (नञ् समास) √गम् + ण्यत् = गम्यः

११. चाटुलः + जल्पकः + वा (:— उ— ओ, हशि च, आद् गुणः)

१२. प्रायशः + न + अभिजातः (:— उ— ओ, हशि च, आद् गुणः) (दीर्घ— अकः सवर्णे दीर्घः)

१३. भीरुः + यदि (ससजुषो रुः— :— र्)

१४. दूरतः + अपि + अप्रगल्भः (अतो रोरप्लुतादप्लुतेः, इकोयणचि)

उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य,
प्राग्जातविस्तृतनिजाधमकर्मवृत्तेः।
दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य,
नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः।।५८।।

अन्वय– उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य, प्राक्, जातविस्तृतनिजाधमकर्मवृत्तेः दैवात् अवाप्त-विभवस्य, गुणद्विषः अस्य नीचस्य गोचरगतैः कैः सुखम् आस्यते।

अनुवाद– (सदैव) सभी दुष्टों को प्रोत्साहित करने वाले, मर्यादाविहीन, पूर्वजन्म (के कर्मों) से बढ़े हुए अपने नीच कार्यों की प्रवृत्ति वाले, देवयोग से प्राप्त ऐश्वर्य से

युक्त, गुणों से द्वेष करने वाले, इस नीच (पुरुष) की दृष्टि में पड़ने पर कौन (व्यक्ति) सुख से रह सकता है।

व्याख्या– इस संसार में व्यक्ति की सुख और शान्ति तभी तक विद्यमान है जब तक वह दुष्ट लोगों की नजरों में नहीं आता है। इन दुष्टों की विशेषताओं का कथन करते हुए कवि कहता है कि ये लोग सदा अपने जैसी प्रकृति वाले दुष्टों को ही सदा प्रश्रय देते हैं तथा प्रोत्साहित करते हैं। इनके लिए समाज द्वारा निर्धारित सभी मर्यादाओं का महत्त्व नहीं होता अर्थात् ये पूर्णतया उच्छृंखल होते हैं, उनकी रुचि सदा नीच कार्यों में रहती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों अपने पूर्व जन्मों में इन्होंने कोई भी पुण्य कर्म नहीं किया है, इसी कारण इस जन्म में भी इनके विचार और कार्य पाप कर्मों में लिप्त हैं।

देवयोग अथवा संयोग से इनके पास धन-धान्य अर्थात् ऐश्वर्य भी पर्याप्त मात्रा में होता है। वस्तुतः इनका ऐश्वर्य कोई पुण्य कर्म का फल नहीं, अपितु मात्र एक संयोग ही होता है। इनका स्वभाव होता है कि ये सदा गुणवान् व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या करते हैं, उनसे प्रसन्न नहीं होते। यदि वास्तव में इन्हें सही शब्दों में कहना चाहें तो ये समाज के लिए कोढ़ होते हैं। भला ऐसे लोगों के दृष्टिपथ में आया हुआ व्यक्ति सुखी किस प्रकार रह सकता है अर्थात् कोई नहीं।

विशेष– १. यदि व्यक्ति इस संसार में सुखी रहना चाहता है तो उसे दुष्टों से जहाँ तक हो सके दूर रहने का प्रयास करना चाहिए।

२. दुर्जनों की सभी विशेषताओं का सुन्दर ढंग से अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख किया गया हैं।

३. वसन्ततिलका छन्द प्रयुक्त हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

४. प्रस्तुत श्लोक में, चतुर्थ चरण के अन्तिम पाद के कारण रूप में प्रारम्भिक पाद को प्रयुक्त किया गया है। अतः काव्यलिंग अलंकार, लक्षण इस प्रकार है—

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. उद्भासिताः अखिलाः खलाः येन सः, उद्भासिताखिलखलः तस्य (बहुव्रीहि)— उद्भासिताखिलखलस्य

२. विगता शृङ्खला यस्य सः, विशृङ्खलः (बहुव्रीहि) तस्य विशृङ्खलस्य

३. √जन् + क्त = जातः। वि + √स्तृ + क्त = विस्तृतः

४. √वृत् + क्तिन् = वृत्तिः। अव + √आप् + क्त = अवाप्तः

५. अवाप्तः विभवः येन सः, अवाप्तविभवः (बहुव्रीहि)

६. गुण + √द्विष् + क्विप् (षष्ठी विभक्ति, एकवचन) गुणद्विषः

७. √आस् + णिच् + त (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन)

८. वि + √भू + अच् = विभव:

९. गोचरं गत:, गोचरगत: तै: गोचरगतै:

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण,
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्धभिन्ना
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम्।।५९।।

अन्वय– खल-सज्जनानाम् मैत्री दिनस्य पूर्वार्द्ध-परार्ध भिन्ना छाया इव आरम्भगुर्वी, क्रमेण क्षयिणी, पुरा लघ्वी, पश्चात् च वृद्धिमती (भवति)।

अनुवाद– दुष्ट और सज्जनों की मित्रता दिन के पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध में भिन्न (स्वरूप वाली) छाया के समान (दुष्टों की) आरम्भ में बड़ी, (किन्तु) क्रमश: छोटी होने वाली, (सज्जनों की) पहले छोटी और बाद में (क्रमश:) वृद्धि वाली (होती है)।

व्याख्या– दुष्टों की मित्रता दिन के पूर्वार्द्ध की छाया के समान आरम्भ में बड़ी तथा क्रमश: छोटी होने वाली तथा सज्जनों की मित्रता दिन के उत्तरार्द्ध की छाया के समान पहले छोटी और बाद में क्रमश: बड़ी होने वाली होती है।

कहने का तात्पर्य है कि दुष्ट व्यक्ति किसी प्रयोजनवश मित्रता करता है और वह उसके निकट अत्यधिक उत्सुकता के साथ शीघ्रतापूर्वक जाता है, जिससे मित्रता करनी होती है, किन्तु जब उसका प्रयोजन हल हो जाता है तो वह मित्रता उतनी ही शीघ्रता से क्रमश: कम होती हुई, अन्त में समाप्त हो जाती है— जैसे प्रात:कालीन किसी भी वस्तु की छाया, यों तो आरम्भ में बड़ी होती है, किन्तु बाद में दोपहर होते होते छोटी होती हुई, अन्त में समाप्त हो जाती है।

किन्तु इसके ठीक विपरीत सज्जनों की मित्रता दोपहर के बाद की किसी वस्तु की छाया के समान आरम्भ में छोटी होती है, क्योंकि सज्जन व्यक्ति की मित्रता किसी स्वार्थ के कारण नहीं होती, अपितु नि:स्वार्थ भाव से होती है। अत: उसं वह अच्छी प्रकार परखने के बाद ही मित्रता करता है और यह मित्रता धीरे-धीरे दोपहर के बाद की छाया के समान बढ़ती चली जाती है।

विशेष– १. दुर्जन और सज्जन की मित्रता को अत्यन्त सुन्दर ढंग से उदाहरण द्वारा समझाया गया है।

२. उपजाति छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण पूर्व में दिया हुआ है।

३. यथासंख्या अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. खलानाम् सज्जनानाम् च (द्वन्द्व समास)

२. आरम्भे गुर्वी (सप्तमी तत्पुरुष)

३. गुरु + ङीप् (प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

४. √क्षि + अच् = क्षय, क्षय + इनि = क्षयिन् + ङीप् = क्षयिणी (प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

५. लघु + ङीप्, लघ्वी (प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

६. √वृध् + क्तिन् = वृद्धि, वृद्धि + मतुप् = वृद्धिमत् + ङीप् = वृद्धिमती

७. छाया + इव (गुण - आद् गुणः - आ + इ = ए)

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम्।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति।।६०।।

अन्वय- जगति तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम्, मृगमीनसज्जनानाम् लुब्धकधीवरपिशुना, निष्कारणे एव वैरिणः (भवन्ति)।

अनुवाद- संसार में, तिनके, जल, सन्तोष से (ही) जीविका चलाने वाले, हिरण, मछली और सज्जनों के (क्रमशः) व्याध, मछुआरे, (और) चुगलखोर बिना कारण ही शत्रु (होते हैं)।

व्याख्या- इस संसार में हिरण, मछली और सज्जन ये तीनों क्रमशः घास, जल और सन्तोष मात्र से ही अपना जीवनयापन कर लेते हैं अर्थात् अपनी आजीविका के लिए किसी को कष्ट नहीं देते और न ही सताते हैं, किन्तु फिर भी इन तीनों के क्रमशः शिकारी, मछली पकड़ने वाले मछुआरे तथा चुगलखोर बिना किसी कारण के ही शत्रु होते हैं।

शिकारी मात्र घास के तिनकों पर जीवनयापन करने वाले हिरण को अपने स्वार्थ के लिए मार डालता है। इसी प्रकार मछली पकड़ने वाला जल मात्र से जीवित रहने वाली मछली को पकड़कर खा लेता है और इसी प्रकार सज्जन मात्र सन्तोष से ही अपना जीवनयापन करते हैं, किसी को कष्ट नहीं देते, किन्तु फिर भी चुगलखोर उनकी झूठी चुगली करके उन्हें हानि पहुँचाते रहते हैं।

विशेष- १. प्रस्तुत श्लोक में मृगादि का तिनके आदि के साथ एक क्रम वर्णित किया गया है। अतः यथा- संख्य अलंकार है, लक्षण—

उद्दिष्टानां पदार्थानां पूर्वपश्चात् यथाक्रमम्।
अनुदेशो भवेद्यत्र तद्यथासंख्यमुच्यते।।

२. दुष्ट प्रकृति के लोगों की शत्रुता के लिए कोई कारण नहीं होता, वे बिना किसी कारण ही शत्रुभाव रखते हैं।

३. आर्या छन्द प्रयुक्त हुआ है, लक्षण पूर्ववत् है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. सम् + √तुष् + घञ् = सन्तोषः २. वि + √धा + क्त = विहितः ३. √वृत् + क्तिन् = वृत्तिः ४. √लुभ् + क्त = लुब्ध + कन् = लुब्धक ५. वैर + इनि = वैरिन् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

६. तृणं च जलं च सन्तोषश्च = तृणजलसंतोषः , तैः विहिताः वृत्तयः येषां ते (बहुव्रीहि)

७. मृगश्च मीनश्च सज्जनश्च तेषां मृगमीनसज्जनानाम्।

सज्जनपद्धतिः

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे[1] परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता,
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद् भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले,
एते येषु वसन्ति[2] निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥६१॥

अन्वय– सज्जनसंगमे वाञ्छा, पर गुणे प्रीतिः, गुरौ नम्रता, विद्यायाम् व्यसनम्, स्वयोषिति रतिः, लोकापवादात् भयम्, शूलिनि भक्तिः, आत्मदमने शक्तिः, खले संसर्गमुक्तिः, येषु एते निर्मलगुणाः वसन्ति तेभ्यः नरेभ्यः नमः।

अनुवाद– सज्जनों की संगति की इच्छा, दूसरों के गुणों में प्रेम, बड़ों के प्रति नम्रता, विद्या में आसक्ति, अपनी पत्नी में प्रेम, लोक-निन्दा से भय, (भगवान्) शिव के प्रति भक्ति, आत्मसंयम में सामर्थ्य, दुर्जनों के संसर्ग का त्याग, जिनमें ये निर्मल गुण रहते हैं, उन लोगों को नमस्कार है।

व्याख्या– श्रेष्ठ लोगों के गुणों का कथन करते हुए कवि कहता है कि ये लोग सज्जनों की संगति की सदा इच्छा करते रहते हैं, क्योंकि सज्जनों के साथ रहने मात्र से व्यक्ति का उद्धार हो जाता है। इनकी विशेषता है कि ये दूसरों के गुणों के प्रति ईर्ष्याभाव नहीं रखते, अपितु उनकी प्रशंसा करते हुए प्रेम करते हैं, बड़ों अर्थात् अग्रजों के साथ नम्रतापूर्वक व्यवहार करते हैं, इनकी रुचि विद्या अध्ययन में रहती हैं, क्योंकि विद्या से ही व्यक्ति को सभी प्रकार के सुखों की प्राप्ति होंती है, एक पत्नी व्रत का पालन करते हुए, परस्त्री के साथ सम्पर्क को अनुचित मानते हैं, लोगों की निन्दा से डरते हैं अर्थात् ऐसा कोई कार्य नहीं करते जिससे उन्हें निन्दा का पात्र होना पड़े, एकमात्र भगवान् शिव के प्रति उनकी एकनिष्ठ भक्ति रहती है तथा इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर ले जाने से

---

१. सज्जनसंगतौ।

२. येष्वेते निवसन्ति (जिनमें ये (गुण) निवास करते हैं।

रोकते है, दुर्जन स्वभाव के लोगों के साथ नहीं रहते हैं। इस प्रकार के श्रेष्ठ लोगों अर्थात् महापुरुषों का मैं आदर करता हूँ और उन्हें नमन करता हूँ।

विशेष– १. महापुरुषों के गुणों का संक्षेप में उल्लेख किया गया है।

२. प्रस्तुत श्लोक के आधार पर भर्तृहरि के लिए कहा जा सकता है कि वे शिव के उपासक थे।

३. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

सूर्याश्वैर्मसजास्तता: सगुरव: शार्दूलविक्रीडितम्।

४. उदात्त अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. सज्जनानां सङ्गमे सज्जनसङ्गमे

२. सम् + √गम् + अप् = सङ्गम:, तस्मिन् सङ्गमे

३. √वाञ्छ् + अ + टाप् = वाञ्छा

४. परस्य गुणे परगुणे (षष्ठी तत्पुरुष)

५. √प्रीञ् (प्रीणने) + क्तिन् = प्रीति: (स्त्रीलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

६. वि + √अस् + ल्युट् (नपुं, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = व्यसनम्

७. √रम् + क्तिन् (स्त्रीलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = रति:

८. अप + √वद् + घञ् = अपवाद:

९. √भी + अच् (नपुं, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) = भयम्

१०. शूल + इनि = शूलिन् (सप्तमी विभक्ति, एकवचन) शूलिनि

११. √भज् + क्तिन् = भक्ति: (स्त्रीलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

१२. आत्मन: दमने आत्मदमने (षष्ठी तत्पुरुष)

१३. √शक् + क्तिन् (स्त्रीलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

१४. संसर्गस्य मुक्ति: = संसर्गमुक्ति: (षष्ठी तत्पुरुष)

१५. लोक + अप + √वद् + घञ् = लोकापवाद: तस्मात्— **लोकापवादात्**

१६. √मुच् + क्तिन् = मुक्ति:

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रम:।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृति सिद्धमिदं हि महात्मनाम्।।६२।।

अन्वय– विपदि धैर्यम्, अभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता, युधि विक्रम:, यशसि च अभिरुचि:, अथ श्रुतौ व्यसनम्, इदम् हि महात्मनाम् प्रकृतिसिद्धम्।

अनुवाद- आपत्ति में धैर्य, उन्नति में क्षमा, सभा में वाणी की निपुणता, युद्ध में पराक्रम और यश में इच्छा तथा शास्त्रों में रुचि यह (सब) महात्माओं में स्वभाव से ही विराजमान रहता है।

व्याख्या- सज्जन एवं महापुरुषों में ये गुण स्वाभाविक रूप से ही रहते हैं, जैसे वे कितनी भी बड़ी से बड़ी आपत्ति क्यों न आ जाए धैर्य का परित्याग नहीं करते, बड़े से बड़े पद को प्राप्त करने पर अथवा ऐश्वर्यसम्पन्न होने पर भी क्षमा का पालन करते हैं। सभा में अपनी वक्तृत्वकला के कारण शीघ्र ही अपना स्थान बना लेते हैं। युद्ध में अपने शौर्य का प्रदर्शन करते हैं और सदा ही इस प्रकार के कार्य करते हैं। जिससे उनकी कीर्ति सारे संसार में फैलती है तथा सदा ही शास्त्रों का अध्ययन, चिन्तन एवं मनन करके अपने आचरण में उतारने का प्रयास करते हैं। ये सब गुण उनमें जन्मजात ही देखने को मिलते हैं।

विशेष- १. 'अथ' पद यहाँ 'समुच्चय' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

२. सज्जनों के गुणों का संक्षेप में उल्लेख किया गया है।

३. मनुष्य को बड़ी से बड़ी आपत्ति में भी धर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए।

४. ऐश्वर्य सम्पन्न होने पर भी क्षमा धारण करना, सज्जनता का प्रतीक है। द्रुतविलम्बित छन्द-

द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।

५. अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

१. वि + √पत् + क्विप् (स्त्रीलिंग, सप्तमी विभक्ति, एकवचन) विपदि

२. धीर + ष्यञ् (नपुं, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) धैर्यम्

३. अभि + उत् + √इण् (गतौ) + अच् (पुल्लिंग, सप्तमी विभक्ति, एकवचन) अभ्युदये

४. √क्षम् + अङ् + टाप् (स्त्रीलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) क्षमा

५. पटु + तल् + टाप् (पटुता)

६. वि + √अस् + ल्युट् (नपुं, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) व्यसनम्

७. प्रकृत्या सिद्धम् (तृतीया तत्पुरुष) प्रकृतिसिद्धम्

८. अथ + अभि + उदये (दीर्घ - अकः सवर्णे दीर्घः, यण् - इकोयणचि)

९. च + अभिरुचिः + व्यसनम् (दीर्घ - अकः सवर्णे दीर्घः, ससजुषो रुः)

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता,
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम्।

हृदि स्वस्था वृत्तिः श्रुत अधिगतैकव्रतफलं[1],
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृति महतां मण्डनमिदम्॥६३॥

अन्वय– करे श्लाघ्यः त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता, मुखे सत्या वाणी, भुजयोः विजयि अतुलम् वीर्यम्, हृदि स्वस्था वृत्तिः, श्रुते अधिगत-एकव्रतफलम्, ऐश्वर्येण विना अपि प्रकृतिमहताम् इदम् मण्डनम्।

अनुवाद– हाथ में प्रशंसनीय दान, सिर पर बड़ों के चरणों में नमन, मुख में सत्यवाणी, भुजाओं में विजय प्रदान कराने वाला अनुपम पराक्रम, हृदय में स्वस्थ आचरण, कान में केवल ज्ञानप्राप्ति रूप व्रत का एकमात्र फल, ऐश्वर्य के बिना भी स्वभाव से महान् (लोगों का) यह (सब) आभूषण (ही है)।

व्याख्या– सज्जनों के पास भले ही ऐश्वर्य न हो, किन्तु प्रशंसनीय गुण जो उनके पास होते हैं, वस्तुतः आभूषणों के समान उनकी शोभा में वृद्धि करने वाले होते हैं जैसे— वे बहुत धनवान् न होने की स्थिति में भी अपने हाथों से धन का याचकों, जरूरतमन्दों को दान देते रहते हैं। वे सदा अपने से बड़ों के चरणों में प्रणाम निवेदन के साथ उनका सम्मान करते हैं, वे सदैव सत्यभाषण करते हैं, उनकी भुजाओं में इस प्रकार का पराक्रम होता है जो उन्हें सदैव युद्ध में विजय दिलाने वाला होता है, जिसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती।

उनका हृदय स्वच्छ मनोवृत्ति वाला होता है अर्थात् उनके हृदय में दोहरी नीति नहीं होती, उनका व्यवहार भीतर बाहर दोनों ओर से एक जैसा होता है। उनके कानों में सदा ही शास्त्रों के श्रवण की लालसा रहती है। परनिन्दा आदि में उनके कान रुचि नहीं लेते हैं। इस प्रकार आचरण करने वाले सज्जन वस्तुतः महापुरुष हैं, प्रशंसनीय हैं।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक में सज्जनों के गुणों का परिगणन किया गया है।

२. गुणों को ही यहाँ अलंकार कहा गया है।अतः उदात्त अलंकार ।

३. शिखरिणी छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है—

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमन सभलागः शिखरिणी।

४. कवि ने अन्यत्र भी कहा है—

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन। दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन॥

५. विना के योग में ऐश्वर्यण में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

६. कुछ विद्वानों ने यहाँ श्रुत का अर्थ शास्त्र किया है जो उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सम्पूर्ण श्लोक में हाथ, सिर, मुँह, भुजा आदि अंगों का ही उल्लेख हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √श्लाघ् + ण्यत् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) श्लाघ्यः

---

१. श्रुतमधिगते च श्रवणयोः (कानों में शास्त्राध्ययन का ज्ञान)

२. √त्यज् + घञ् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) त्यागः
३. प्रणयिन् + तल् + टाप् (स्त्रीलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) प्रणयिता
४. नास्ति तुला यस्य तत्, अतुलम् (बहुव्रीहि)
५. विजय + इनि (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) विजयी
६. वीर + यत् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) वीर्यम्
७. √श्रु + क्त (नपुं., सप्तमी विभक्ति, एकवचन) श्रुते
८. प्रकृत्या महान्तः इति प्रकृतिमहान्तः (तृतीया तत्पुरुष) तेषाम् प्रकृतिमहताम्
९. √मण्ड् + ल्युट् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) मण्डनम्
१०. ईश्वरस्य भावः ऐश्वर्यम्। ईश् + वरच् = ऐश्वर्येण (तृतीया विभक्ति, एकवचन)
११. विना + अपि + ऐश्वर्येण (दीर्घ - अकः सवर्णे दीर्घः) (यण् - इकोयणचि)
१२. श्लाघ्यः + त्यागः (विसर्ग - विसर्जनीयस्य सः)
१३. भुजयोः + वीर्यम् (विसर्ग - ससजुषो रुः)

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं,
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्।
तृष्णास्त्रोतो विभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा,
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः।।६४।।

अन्वय– प्राणाघातात् निवृत्तिः, परधनहरणे संयमः, सत्यवाक्यम्, काले शक्त्या प्रदानम्, परेषाम् युवतिजनकथामूकभावः, तृष्णास्त्रोतः विभङ्गः, गुरुषु च विनयः, सर्वभूतानुकम्पा, सर्वशास्त्रेषु अनुपहतविधिः श्रेयषाम् एषः (एव) सामान्यः पन्थाः (अस्ति)।

अनुवाद– प्राणों के आघात से विमुखता, दूसरे का धन छीनने में स्वयं को रोकना, सत्य भाषण, समय पर शक्ति के अनुसार दान देना, दूसरों की स्त्रियों की बातों में मौनभाव, लोभ के प्रवाह का विनाश, बड़ों के प्रति विनम्रता, सभी प्राणियों पर दया, सभी शास्त्रों में (वर्णित) प्रशंसनीय सिद्धान्त वाला, कल्याणों का यही सामान्य मार्ग (है)।

व्याख्या– सभी शास्त्रों में चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय अथवा धर्म से सम्बन्धित क्यों न हों, कल्याणों की प्राप्ति के लिए एक ही मार्ग बताया है कि व्यक्ति को कभी भी अपने जीवन में किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए अर्थात् "अहिंसा परमो धर्मः" सिद्धान्त सर्वोत्कृष्ट है। दूसरे के धन पर कभी भी गिद्ध दृष्टि नहीं डालनी चाहिए, अपने परिश्रम द्वारा कमाया हुआ धन ही प्राप्त करने योग्य है। सदैव सत्य बोलना चाहिए जब भी आवश्यकता पड़े तो अपनी सामर्थ्य के अनुसार दान अवश्य देना चाहिए।

यदि कहीं पराई स्त्री की चर्चा हो रही हो तो उसमें कभी भी बढ़ चढ़कर हिस्सा

नहीं लेना चाहिए, अपितु चुप ही रहना चाहिए। कभी भी लोभ नहीं करना चाहिए। जो भी आयु में अथवा विद्या में बढ़े हुए लोग हैं, उनके साथ सदा ही विनम्रता से व्यवहार करना चाहिए। इस संसार में जितने भी प्राणी हैं, चाहे वह छोटा हो या बड़ा सभी पर सदैव दयाभाव प्रदर्शित करना चाहिए।

उपरोक्त बातों का पालन करने से व्यक्ति को केवल कल्याणों की ही प्राप्ति होगी। यह सुनिश्चित है।

विशेष– १. धर्म कोई भी हो, ये बातें सर्वसम्मति से मान्य है। अतः ऐसा आचरण करने से मनुष्य निश्चय ही धरती पर स्वर्ग की परिकल्पना साकार करने में समर्थ है।

२. भाषा अत्यन्त सरल, भावबोधगम्य एवं प्रवाहपूर्ण प्रयुक्त हुई है।

३. मनुष्य का स्वभाव है कि वह प्रायः दूसरे के धन को येनकेन प्रकारेण हड़पना चाहता है, उसका पूर्णतया निषेध किया गया है।

४. सत्यं वद, धर्मं चर, मा हिंस्यात्, सर्वभूतानि, अनार्यः परदारव्यवहारः, आदि सिद्धान्तों की चर्चा सभी शास्त्रों में हुई है।

५. स्रग्धरा छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है—

म्रभ्नैर्यानां त्रयेन त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. प्राणानाम् आघातः प्राणाघातः, तस्मात् (षष्ठी तत्पुरुष) आ + √हन् + णिच् + घञ् = आघातः

२. नि + √वृत् + क्तिन् (प्रथमा विभक्ति, एकवचन) निवृत्तिः

३. प्र + √दा + ल्युट् = प्रदानम् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

४. वि + √भञ्ज् + घञ् = विभङ्गः

५. वि + √नी + अक् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) विनयः

६. न उपहतः विधिः यस्य सः, अनुपहतः (नञ् समास)

७. वि + √धा + कि (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) विधिः

८. समान + ष्यञ् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) सामान्यः

९. √हृ + ल्युट् = हरणम् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

१०. प्रशस्य (श्र आदेश) + ईयसुन्, श्रेयसाम्

११. सर्वशास्त्रेषु + अनुपहतविधिः (यण्, इकोयणचि)

१२. पन्थाः— पथिन् + सु (प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

१३. परधनस्य हरणे = परधनहरणे (षष्ठी तत्पुरुष)

१४. युवतिजनानाम् कथासु, युवतिजनकथासु (षष्ठी तत्पुरुष)

१५. सर्वेषु भूतेषु अनुकम्पा सर्वभूतानुकम्पा (सप्तमी तत्पुरुष)

सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम्।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम्।।६५।।

अन्वय– महताम् चित्तम् सम्पत्सु उत्पलकोमलम्, आपत्सु च महाशैलशिला-संघातकर्कशम् भवति।

अनुवाद– महान् (पुरुषों) का मन सम्पत्तियों में कमल के समान कोमल और आपत्तियों में विशाल पर्वत की शिलाओं के संघात के समान कठोर होता है।

व्याख्या– महान् पुरुषों का चरित्र वस्तुत: आश्चर्यचकित कर देने वाला, अन्य लोगों से भिन्न होता है। जब इनके पास सम्पत्तियाँ आती हैं, ये ऐश्वर्यसम्पन्न होते हैं तो इनका मन अत्यन्त दयालु प्रकृति का हो जाता है, उस समय यह कमल के समान कोमल होता है, क्योंकि यदि इनके सामने कोई कष्ट में पड़ा हुआ व्यक्ति आता है तो ये दयार्द्र होकर तत्काल उसकी सहायता के लिए तत्पर हो जाते हैं।

इसके विपरीत जब ये आपत्तिग्रस्त होते हैं, उस समय इनका वही कमल के समान कोमल मन, विशाल पर्वत की कठोरतम शिला के समूह के समान आपत्तियों का सामना करने में समर्थ होता है अर्थात् वे आपत्तियों से घिर जाने पर जरा भी विचलित नहीं होते, अपितु पर्वत की मजबूत शिला के समान उनका डट कर मुकाबला करते हैं।

विशेष– १. महान् पुरुषों का चित्त आपत्ति और सम्पत्ति में क्रमश: कठोर और कोमलता का आचरण करता है।

२. प्रस्तुत श्लोक में मन की कोमलता की उपमा कमल से, कठोरता की उपमा कठोरतम शिला समूह से दी गई है। अत: उपमालंकार, लक्षण इस प्रकार है–

प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधीयते।।

३. अनुष्टुप् छन्द, लक्षण पूर्ववत् है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. उत्पलम्, इव कोमलम् (अव्ययीभाव) उत्पलकोमलम्

२. महाशैलस्य शिलानाम् संघात: इव कर्कशम् (अव्ययीभाव) महाशिला-संघातकर्कशम्

३. भवति + उत्पलकोमलम् (यण् - इकोयणचि - इ– य्)

४. सम् + √हन् + घञ् = संघात:

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरं,
असन्तो नाभ्यर्थ्या: सुहृदपि न याच्य कृशधन:।
विपद्युच्चै: स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्।।६६।।

अन्वय- प्रिया न्याय्या वृत्तिः, असुभंगे अपि मलिनम् असुकरम्, असन्तः न अभ्यर्थ्याः, कृशधनः सुहृद् अपि न याच्यः, विपदि उच्चैः स्थेयम्, महताम् पदम् अनुविधेयम्, असिधारा इदम् विषमम् व्रतम् सताम् केन उद्दिष्टम्।

अनुवाद- प्रिय और न्यायपूर्ण व्यवहार, प्राणों के नष्ट होने पर भी बुरा (कार्य) सरलता से न करना, दुष्टों से न मांगना, निर्धन मित्र से भी याचना न करना, आपत्ति में (अपने मनोबल को) ऊँचा बनाए रखना, महान् लोगों के पद (चिह्नों) का अनुसरण करना, तलवार की धार पर चलने के समान इस कठोर व्रत का सज्जनों को किसने उपदेश दिया।

व्याख्या- समाज सज्जनों से अनेक व्यवहार-विषयक अपेक्षा करता है, इसी आधार पर वे सज्जन कहलाते हैं, उनका कथन करते हुए कवि कहता है— व्यवहार न्यायसंगत भी हो और अच्छा भी लगे यह बहुत कम देखने में आता है, किन्तु सज्जनों को ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए। भले ही प्राण ही संकट में क्यों न पड़ जाएँ, किन्तु सज्जनों को कोई भी मर्यादा के विपरीत आचरण नहीं करना चाहिए। वह दुष्ट व्यक्ति से कभी भी कुछ न मांगे चाहे कितनी भी कठिनाई में क्यों न पड़ जाए।

साथ ही ऐसे मित्र से नहीं माँगे जो देने की स्थिति में नहीं हो, क्योंकि उस स्थिति में वह मित्र अत्यन्त हीनता का अनुभव करेगा और अपराध बोध से ग्रस्त होगा, इसके अतिरिक्त कठिन से कठिन स्थिति में पड़ने पर भी अपने धैर्य और मनोबल को न गिराये। ये सभी बातें सहज नहीं हैं अर्थात् तलवार की धार पर चलने के समान अत्यन्त कठिन है, किन्तु फिर भी हम सभी सज्जनों से इसी प्रकार के आचरण की अपेक्षा करते हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है और सज्जन भी स्वतः ही बिना किसी की प्रेरणा के इस प्रकार का व्यवहार करते हैं। यह उससे भी अधिक आश्चर्य का विषय है।

विशेष- १. सज्जनों के लिए निश्चित मानदण्डों के आधार पर व्यवहार करना वस्तुतः तलवार की धार पर चलने के समान अत्यन्त कठिन है।

२. 'न्याय्यः मनोहारि च दुर्लभं वचः' की भावनाओं का पोषण प्रस्तुत श्लोक में हुआ है। यदि कोई व्यक्ति न्यायपूर्ण आचरण करे तो आवश्यक नहीं कि वह प्रिय भी हो, सभी को अच्छा लगे, किन्तु लोग सज्जनों से यहीं अपेक्षा करते हैं।

३. प्रायः व्यक्ति अपने प्राणों को बचाने के लिए अनेकशः बुरे से बुरा कार्य करने को सहज ही तैयार हो जाता है, किन्तु सज्जनों से यह अपेक्षा नहीं की जाती है।

४. वास्तव में प्रस्तुत श्लोक में गिनाए गए व्यवहार सामान्य व्यक्ति के लिए अत्यन्त कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव हैं, किन्तु हमारे समाज ने सज्जनों के लिए इन्हें निर्धारित किया हुआ है।

५. महाकवि कालिदास का भी विचार है कि—

याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।

६. प्रस्तुत श्लोक में शिखरिणी छन्द है। लक्षण इस प्रकार है—

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. न्याय + यत् + टाप् (प्रथमा विभक्ति, एकवचन) न्याय्या
२. √वृत् + क्तिन् (प्रथमा विभक्ति, एकवचन) वृत्तिः
३. असूनाम् भङ्गे (षष्ठी तत्पुरुष) असुभङ्गे
४. न सुकरम् इति (नञ् समास) असुकरम्
५. न सन्तः इति (नञ् समास) असन्तः
६. अभि + अर्थ + यत् (प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) अभ्यर्थ्याः
७. कृशम् धनम् यस्य सः (बहुव्रीहि) कृशधनः
८. √स्था + यत् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) स्थेयम्
९. अनु + वि + √धा + यत् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) अनुविधेयम्
१०. असिधारा इव कठिनव्रतम् (कर्मधारय) असिधाराव्रतम्
११. उत् + √दिश् + क्त (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) उद्दिष्टम्
१२. विपदि + उच्चैः = विपद्युच्चैः (यण्, इकोयणचि)
१३. केन + उद्दिष्टम् = केनोद्दिष्टम् (गुण, आद् गुणः)

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः,
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः।
अनुत्सेको लक्ष्म्यां निरभिभवसाराः परकथाः,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्॥६७॥

अन्वय– प्रच्छन्नम् प्रदानम्, गृहम् उपगते सम्भ्रमविधिः, प्रियम् कृत्वा मौनम्, सदसि च उपकृतेः कथनम्, लक्ष्म्याम् अपि अनुत्सेकः, निरभिभवसाराः परकथाः, असिधाराविषमम् इदम् व्रतम् सताम् केन उद्दिष्टम्।

अनुवाद– अत्यन्त गुप्त पर्याप्त दान करना, घर पर आए हुए (व्यक्ति) का आदर करना, प्रिय करके चुप रहना और सभा में उपकार करने वाले का कथन करना, धन-सम्पत्ति होने पर भी घमण्ड न करना, दूसरों की निन्दारहित चर्चा करना, तलवार की धार पर चलने के समान यह कठोर व्रत सज्जनों को किसने बताया है।

व्याख्या– सज्जनों का आचरण किस प्रकार का होता है, इसका कथन करते हुए कवि कहता है कि उनका आचरण वस्तुतः तलवार की धार पर चलने के समान अत्यन्त कठिन सामान्यजन के लिए अत्यन्त दुर्गम होता है, क्योंकि सज्जन को सदैव अत्यधिक मात्रा में दान देना चाहिए, किन्तु साथ ही वह दान यश-प्राप्ति के लिए न हो, अपितु गुप्त दान हो, ऐसी समाज की उससे अपेक्षा रहती है, जो वस्तुतः अत्यन्त कठिन कार्य है।

इसी प्रकार सज्जन को घर पर आए व्यक्ति का भले ही वह अपरिचित ही क्यों न हो, सम्मान करना चाहिए, क्योंकि अतिथि देवता के समान होता है, उसकी पूजा सम्मान किया जाना आवश्यक है, भले ही स्वयं की आर्थिक स्थिति ठीक हो अथवा न हो।

इसके अतिरिक्त वह दूसरों का उपकार तो करे, पर चुप रहे, उसका कथन कहीं भी न करे, दूसरे शब्दों में 'नेकी कर कुँए में डाल' को अपने जीवन का आदर्श बनाए। इसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति ने उसके प्रति कोई उपकार किया है तो उसको सार्वजनिक रूप से अत्यन्त कृतज्ञ, भाव से स्वीकार करे। भले ही अपने पास प्रभूत ऐश्वर्य क्यों न आ जाए, कितनी ही धन-सम्पत्ति के मालिक क्यों न हो जाए, किन्तु अहंकार को कभी भी अपने पास तक न फटकने देवे।

इसके अतिरिक्त प्रथम तो दूसरों की पीठ पीछे चर्चा ही न करे और यदि करनी भी पड़े तो वह निन्दापरक न हो, प्रशंसापरक होनी चाहिए। वस्तुतः ये सब गुण सज्जन के कहे गये हैं, किन्तु इस सब पर आचरण करना, पालन करना तलवार की धार पर चलने के समान अत्यन्त कठिन ही है।

विशेष– १. सज्जनों के असाधारण व्यवहार की ओर अत्यन्त सुन्दर ढंग से संकेत किया गया है।

२. सज्जनों के मार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान अत्यन्त कठिन बताया गया है।

३. गुप्तदान सर्वाधिक प्रशंसनीय माना गया है, क्योंकि उसमें व्यक्ति की यश की कामना नहीं रहती।

४. शिखरिणी छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमन सभलागः शिखरिणी।

५. अर्थापत्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. प्रकृष्टं दानम्, प्रदानम् (अव्ययीभाव)
२. प्र + √छद् + क्त (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) प्रच्छन्नम्
३. √दा + ल्युट् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) दानम्
४. उप + √गम् + क्त = उपगतम् (सप्तमी विभक्ति, एकवचन) उपगते
५. सम्भ्रमस्य विधिः (षष्ठी तत्पुरुष) सम्भ्रमविधिः
६. सम् + √भ्रम् + घञ् = सम्भ्रमः। अभि + √ भू + अप् = अभिभवः
७. वि + √धा + कि = विधिः। √ सृ + घञ् = सारः
८. उप + √कृ + क्तिन् = उपकृतेः (स्त्रीलिंग, षष्ठी विभक्ति, एकवचन)
९. √कथ् + ल्युट् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) कथनम्
१०. न उत्सेकः अनुत्सेकः (नञ् समास)

११. उत् + √सिच् + घञ् = उत्सेक:। परेषां कथा: (षष्ठी तत्पुरुष) परकथा:
१२. उत् + √दिश् + क्त (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) उद्दिष्टम्
१३. असिधारा इव कठिनम् व्रतम् (कर्मधारय) असिधाराव्रतम्
१४. निरभिभव: सार: यासां ता:, निरभिभवसारा: (बहुव्रीहि)

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते[1],
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।[2]
स्वात्यां[3] सागरसूक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिं जायते,
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणा: संसर्गतो देहिनाम्[4]॥६८॥

अन्वय– सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयस: नाम अपि न ज्ञायते, तत् एव नलिनीपत्रस्थिम् मुक्ताकारतया राजते, तत् (एव) स्वात्याम् सागरसूक्तिमध्यपतितम् मौक्तिकम् जायते, प्रायेण देहिनाम् संसर्गत: अधममध्यमोत्तमगुणा: (जायन्ते)।

अनुवाद– अत्यधिक तपे हुए लोहे पर रखे हुए जल का नाम भी नहीं जाना जाता है, वही कमलिनी के पत्ते पर स्थित हुआ मोती के आकार में सुशोभित होता है, वही स्वाति (नक्षत्र) में समुद्र में स्थित सीप के बीच गिरा हुआ मोती हो जाता है, प्राय: देहधारियों में संसर्ग से (ही) अधम, मध्यम और उत्तम गुण (उत्पन्न होते हैं)।

व्याख्या– व्यक्ति जैसी संगति में रहता है, वैसा ही बन जाता है अर्थात् उसमें उसी तरह के गुण आ जाते हैं, इसी बात को जल की बूँद का उदाहरण देते हुए कवि कहता है कि जल की एक बूँद को यदि अत्यन्त गर्म लोहे पर डाला जाए तो वह एक क्षण में ही छन की ध्वनि के साथ गायब हो जाती है, उसका नामोनिशान भी नहीं रहता है।

इसके विपरीत यदि उसी जल की बूँद को कमलिनी के पत्ते पर रखा जाए तो वही मोती के समान शोभा वाली हो जाती है तथा वही जल की बूँद यदि स्वाति नक्षत्र में समुद्र में स्थित सीप के सम्पर्क में आती है, तो मोती ही बन जाती है।

इस प्रकार एक ही बूँद जब गर्म लोहे रूपी अधम व्यक्ति के सम्पर्क में आयी तो पूर्णतया अस्तित्वविहीन हो गई। पुन: कमलिनी के पत्ते रूपी मध्यम श्रेणी के व्यक्ति के सम्पर्क में आयी तो मोती के समान दिखाई देने वाली हुई और वही जब उत्तम कोटि के व्यक्ति रूपी सीपी के सान्निध्य में आयी तो मोती ही बन गई।

इसी प्रकार व्यक्ति भी जब अधम, मध्यम और उत्तम गुणों से सम्पन्न व्यक्ति के निकट आता है तो उसी प्रकार के गुणों से युक्त हो जाता है।

---

१. श्रूयते
२. दृश्यते
३. अन्त:
४. एवं विधा वृत्तय:

विशेष– १. अन्यत्र भी कहा गया है— संसर्गजा: दोषगुणा: भवन्ति।

२. कहते हैं स्वाति नक्षत्र में यदि सागर में स्थित सीपी में जल की बूँद गिर जाए तो मोती बन जाती है।

३. संगति से होने वाले प्रभावों को अत्यन्त सुन्दर उदाहरण देकर प्रदर्शित किया गया है।

४. यहाँ तपा हुआ लोहा दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति का प्रतीक है। जिसके संसर्ग में आने पर व्यक्ति का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।

५. मनुष्य को सदैव श्रेष्ठ लोगों के सम्पर्क में आने का ही प्रयत्न करना चाहिए।

६. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है—

सूर्याश्वैर्मसजा स्तता: सगुरव: शार्दूलविक्रीडितम्।।

७. समुच्चय अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. सन्तप्तम् अय: सन्तप्ताय:, तस्मिन् (कर्मधारय) संतप्तायसि

२. सम् + √स्था + क्त (षष्ठी विभक्ति, एकवचन, नपुं.) संस्थितस्य

३. नलिन्या: पत्रम् (षष्ठी तत्पुरुष) नलिनीपत्रम्, तस्मिन् स्थितम् नलिनीपत्रस्थितम्

४. मुक्ताया: इव आकार: यस्य स: (बहुव्रीहि) मुक्ताकार: तस्य भाव: मुक्ताकारता, तया मुक्ताकारतया

५. √राज् (दीप्तौ) + त (लट् लकार, आत्मने, प्रथम पुरुष, एकवचन) राजते

६. √जनि (प्रादुर्भावे) + त (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) जायते

७. संसर्ग + तसिल् = संसर्गत:

८. देह + इनि (पुल्लिंग, षष्ठी विभक्ति, बहुवचन) देहिनाम्

९. अधमश्च मध्यमश्च उत्तमश्च (द्वन्द्व समास) अधममध्यमोत्तमा:

१०. मुक्ता + कञ् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) मौक्तिकम्

य: प्रीणये[१] त्सुचरितै: पितरं स पुत्रो,
यद् भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यद्
एतत् त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते।।६९।।

अन्वय– य: सुचरितै: पितरम् प्रीणयेत्, स: पुत्र:, यत् (सदा) भर्तु: एव हितम् वाञ्छति, तत् कलत्रम्, यत् आपदि सुखे च समक्रियम् तत् मित्रम्, जगति एतत् त्रयम् पुण्यकृत: (एव) लभन्ते।

---

१. पाठभेद— प्रीणाति य: (जो प्रसन्न करें)

अनुवाद– जो श्रेष्ठ आचरणों के द्वारा पिता को प्रसन्न करे, वह पुत्र, जो (सदैव) पति का ही हित चाहती हो, वह स्त्री, जो आपत्ति में और सुख में समान व्यवहार वाला हो, वह मित्र, संसार में ये तीनों पुण्यशाली ही प्राप्त करते हैं।

व्याख्या– वे लोग अत्यन्त पुण्यात्मा हैं, जिन्हें ऐसे पुत्र की प्राप्ति हो जो अच्छे आचरण द्वारा अपने माता-पिता को प्रसन्न करे। ठीक इसी प्रकार ऐसी पत्नी की प्राप्ति भी पुण्यों के ही प्रताप से सम्भव हैं जो केवल अपने पति के प्रति ही अनुरक्त हो तथा उसके ही हित का सदैव चिंतन करती हो और ऐसा मित्र भी व्यक्ति को अत्यधिक पुण्यों से ही मिलता है जो कठिन परिस्थिति में भी अर्थात् आपत्ति एवं सुख की स्थिति दोनों में समान व्यवहार करने वाला हो। सामान्यत: होता यह है कि मित्र सुख में साथ रहते हैं और आपत्ति के समय साथ छोड़ देते हैं।

विशेष– १. उत्तम पुत्र, पतिव्रता पत्नी एवं हितकारी मित्र ये तीनों पूर्व जन्म में किए गए परम पुण्यों से ही मिलते हैं।

२. काव्यलिंग अलंकार का प्रयोग हुआ है।

३. अन्यत्र भी कवि ने कहा है कि जो आपत्ति में साथ दे वही सच्चा मित्र है—

आपद्गतं च न जहाति ददाति काले।
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्त:।।

४. वसन्ततिलका छन्द है, लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग:।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √प्रीञ् (प्रीणने) + तिप् (विधिलिंग, प्रथम पुरुष, एकवचन) प्रीणयेत्
२. √भृ + तृच् (पुल्लिंग, षष्ठी विभक्ति, एकवचन) भर्तु:
३. समाना: क्रिया: यस्य तत् समक्रियम् (बहुव्रीहि)
४. शोभनानि चरितानि सुचरितानि, तै: सुचारितै:

नम्रत्वेनोन्नमन्त: परगुणकथनै: स्वान् गुणान् ख्यापयन्त:,
स्वार्थान् सम्पादयन्तो वितत पृथुतरारम्भयत्ना: परार्थे।
क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखां दुर्मुखान् दूषयन्त:,
सन्त: साश्चर्यचर्या जगति बहुमता: कस्य नाभ्यर्चनीया:।।७०।।

अन्वय– नम्रत्वेन उन्नमन्त:, परगुणकथनै: स्वान् गुणान् ख्यापयन्त:, परार्थे विततपृथुतरारम्भयत्ना: स्वार्थान् सम्पादयन्त:, आक्षेप-रुक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्मुखान् क्षान्त्या एव दूषयन्त:, साश्चर्यचर्या: बहुमता: सन्त: जगति कस्य अभ्यर्चनीया: न।

अनुवाद– नम्रता से ऊपर उठते हुए, दूसरों के गुणों को कहने के द्वारा अपने गुणों को प्रकट करते हुए, दूसरों के लिए विस्तृत और विशाल प्रारम्भ से युक्त यत्नों द्वारा

अपने अभिप्रायों का सम्पादन करते हुए, क्षमा से ही निन्दा के कारण रूखे अक्षरों से वाचाल मुख वाले दुर्जनों को दूषित करते हुए, आश्चर्ययुक्त आचरण वाले, अनेकों द्वारा सम्मानित सज्जन (लोग) संसार में किसके लिए पूजनीय नहीं है?

व्याख्या– सज्जन विनम्रतापूर्वक व्यवहार के द्वारा जीवन में उन्नति करते हुए प्रशंसा के पात्र होते हैं, वे सदैव दूसरों के गुणों का कथन करके परप्रशंसा रूप अपने गुणों को प्रकट करते हैं। उनके जितने भी कार्य होते हैं, वे सब प्रायः परोपकार के लिए ही मुख्य रूप से होते हैं, उन्हीं को प्रमुखता प्रदान करते हुए गौण रूप में अपने प्रयोजनों को भी सिद्ध कर लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इनकी जो भी दिनचर्या होती है, वह प्रमुख रूप से दूसरों की भलाई के लिए होती है, किन्तु उन्हें करते हुए यदि उनका अपना भी कोई कार्य सम्पादन हो रहा हो तो वे कर लेते हैं। स्वार्थ के लिए ही उनकी क्रियाएँ प्रारम्भ नहीं होतीं।

जब दुर्जन उनके ऊपर अनेक प्रकार से दोषारोपण करते हैं, ऐसे रूखे अक्षरों से मुखरित उनके मुखों को ये सज्जन एकमात्र क्षमा रूपी हथियार से बन्द कर देते हैं अर्थात् उन्हें क्षमारूपी अस्त्र के द्वारा निष्प्रभ कर देते हैं। इस प्रकार के आश्चर्यचकित कर देने वाले व्यवहार वाले परमादरणीय सज्जनों की कौन पूजा नहीं करता अर्थात् इस प्रकार के गुणों के युक्त सज्जन सभी के द्वारा समादरणीय होते हैं।

विशेष– १. सज्जनों के गुणों का उल्लेख करते हुए, उनके व्यवहार को आश्चर्यजनक बताया है।

२. स्रग्धरा छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।

३. उदात्त और समुच्चय अलंकार का प्रयोग दर्शनीय है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. उत् + √नम् + शतृ (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) उन्नमन्तः

२. परेषां गुणानां कथनम् – परगुणकथनम् तैः , परगुणकथनैः

३. वि + √तन् + क्त = वितत। आ + √रभ् + घञ् = आरम्भः

४. पृथु + तरप् = पृथुतर

५. √क्षम् + क्तिन् (स्त्रीलिंग, तृतीया विभक्ति, एकवचन) क्षान्त्या

६. आक्षेपेण रूक्षाक्षरैः मुखराणि मुखानि येषां तान्, आक्षेपरूक्षाक्षरमुखान्

७. दुष्टानि मुखानि येषाम् ते दुर्मुखाः,. तान् दुर्मुखान् (बहुव्रीहि)

८. √चर् + यत् + टाप् = चर्या

९. अभि + √अर्च् + अनीयर् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) अभ्यर्चनीयाः

१०. नम्रत्वेन + उन्नमन्तः (गुण, आद् गुणः) (अ + उ = ओ)

११. स्व + अर्थान् (अ + अ = आ)

१२. पर + अर्थे (दीर्घ - अकः सवर्णे दीर्घः) (अ + अ = आ)

११३. न + अभ्यर्चनीयाः (अ + अ = आ)

१४. √ख्या + णिच् + शतृ (पुक् आगम) = ख्यापयन्तः

१५. सम् + √पद् + णिच् + शतृ (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) सम्पादयन्तः

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः,
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डिता वसुधा।।७१।।

अन्वय- अप्रियवचनदरिद्रैः, प्रियवचनाढ्यैः, स्वदारपरितुष्टैः परपरिवादनिवृत्तैः (मानवैः) वसुधा क्वचित् क्वचित् मण्डिता।

अनुवाद- प्रिय न लगने वाले वचनों से दरिद्र, प्रिय वचनों से धनवान्, अपनी पत्नी से (पूर्णतया) संतुष्ट, दूसरों की निन्दा से विमुख (लोगों से) पृथिवी कहीं-कहीं पर ही सुशोभित होती है।

व्याख्या- इस संसार में इस प्रकार के लोग अँगुलिगण्य ही है जो इस प्रकार की वाणी बोलते हैं जो दूसरों को कटु न लगे। ठीक इसी प्रकार प्रिय वाणी बोलने वाले भी इस संसार में बहुत कम हैं।

इसी प्रकार संसार में ऐसे लोगों की संख्या भी अत्यल्प ही है जो एकमात्र अपनी पत्नी से ही संतुष्ट रहते हैं, साथ ही ऐसे लोग भी इस संसार में अधिक नहीं है जो दूसरों की निन्दा में आनन्द का अनुभव नहीं करते हैं और यदि अत्यल्प हैं भी, तो वे लोग वस्तुतः पृथिवी के अलंकार स्वरूप ही हैं।

विशेष- १. सामान्यतया लोग कठोर वाणी का प्रयोग करने वाले, दूसरों की स्त्रियों पर कुदृष्टि रखने वाले तथा दूसरों की निन्दा में रुचि रखने वाले होते हैं।

२. मानव स्वभाव का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है।

३. आर्या छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या।।

४. प्रस्तुत श्लोक नीतिशतकम् की सभी प्रतियों में उपलब्ध नहीं होता।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

१. न प्रियः इति अप्रियः (नञ् समास) अप्रियैः वचनैः दरिद्राः अप्रियवचनदरिद्राः तैः, अप्रियवचनदरिद्रैः

२. परि + √तुष् + क्त = परितुष्टः, तैः परितुष्टैः

३. परि + √वद् + घञ् = परिवादः

४. नि + √वृत् + क्त = निवृत्तः, तैः निवृत्तैः

५. √मण्ड् + क्त + टाप् = मण्डिता (प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

६. स्वदारैः परितुष्टाः स्वदारपरितुष्टाः तैः, स्वदारपरितुष्टैः

एको देवः केशवो वा शिवो वा,
एकं[1] मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा।
एको वासः पत्तने वा वने वा,
एका[2] नारी सुन्दरी वा दरी वा॥७२॥

अन्वय– एकः देवः केशवः वा शिवः वा, एकम् मित्रम् भूपतिः वा यतिः वा, एकः वासः पत्तने वा वने वा, एका नारी सुन्दरी वा दरी वा।

अनुवाद– एक (ही) देवता (हो) केशव (हो) या शिव (हो), एक (ही) मित्र (हो) (चाहे वह) राजा (हो) या सन्यासी (हो) एक (ही) निवास (हो) (चाहे वह) नगर में (हो) या वन में (हो) एक (ही) नारी (हो), सुन्दरी हो या कुरूप (हो)।

व्याख्या– व्यक्ति के लिए स्थिर चित्त होना आवश्यक है, इसी का कथन करते हुए कवि कहता है, व्यक्ति को एक ही देवता में ध्यान लगाना चाहिए चाहे वह शिव हो या फिर विष्णु, इसी प्रकार व्यक्ति को एक ही व्यक्ति से मित्रता करनी चाहिए चाहे वह ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति से करे अथवा सन्यासी से, किन्तु वह मित्रता स्थायी होनी चाहिए, ठीक इसी प्रकार व्यक्ति को एक स्थान पर रहने का निश्चय करना चाहिए चाहे वह निवास नगर में हो या फिर वन में, एक ही नारी से व्यक्ति को प्रेम करना चाहिए चाहे वह सुन्दर हो अथवा कुरूप एकाधिक स्त्रियों से सम्पर्क उचित नहीं है।

विशेष–१. व्यक्ति की उन्नति एवं शुद्ध छवि के लिए स्थिर चित्त होना आवश्यक है।

२. प्रस्तुत श्लोक से कवि का शैव अथवा वैष्णव होना प्रतीत होता है।

३. शिखरिणी छन्द प्रयुक्त हुआ है, लक्षण–

रसैःरुद्रैश्छिन्ना यमन सभलागः शिखरिणी।

४. भाषा अत्यन्त सरल एवं भावबोधगम्य प्रयुक्त हुई है।

५. अनुप्रास अलंकार दर्शनीय है।

६. प्रत्येक चरण में एक वा पद का प्रयोग पाद पूर्ति के लिए है।

७. कुछ विद्वान् टीकाकारों ने दरी का अर्थ गुफा किया है, जो उचित प्रतीत नहीं होता।

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां न गोचरः।
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिं प्रतीक्षसे॥७३॥

---

१. ह्येकम्

२. ह्येका

अन्वय- (हे) अम्भोदवर! त्वम् एव चातकाधारः असि इति, केषाम् गोचरः न (अस्ति)। (पुनरपि) अस्माकम् कार्पण्योक्तिम् किम् प्रतीक्षसे।

अनुवाद- (हे) श्रेष्ठ मेघ! तुम ही चातक के आधार हो, यह किसको ज्ञात नहीं (है)। (फिर भी) हमारे दीन वचनों की प्रतीक्षा क्यों करते हो।

व्याख्या- बादल को सम्बोधित करके कवि कहता है कि हे श्रेष्ठ बादल! तुम जो जल प्रदान करते हो, उसी को पीकर चातक अपना जीवन धारण करता है। अतः तुम ही वस्तुतः उसके जीवन के आधार हो तब यह जानते हुए भी तुम स्वयं ही उसे, उसकी आवश्यकता को समझते हुए तथा अपने महत्त्व को स्वीकार करते हुए, उसके उपयोग के योग्य जल प्रदान क्यों नहीं करते हो। तुम यह प्रतीक्षा क्यों करते हो कि पहले यह मेरे सामने अत्यन्त दीनहीन होकर याचना करे तब ही मैं इसे जल की कुछ बूँदें प्रदान करुँगा। वस्तुतः तुम्हारा बड़प्पन तो इसी में है कि तुम इसकी आवश्यकता एवं अपनी उदारता प्रदर्शित करते हुए स्वयं ही इसे जल प्रदान करो।

विशेष- १. यहाँ बादल धनवान् का तथा चातक निर्धन का प्रतीक है।

२. वस्तुतः यह संदेश कवि का धनवान् को अन्योक्ति के माध्यम से दिया गया है। अतः अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

३. दीन व्यक्ति को उसकी आवश्यकता समझकर बिना मांगे ही देना, धनवानों का पुनीत कर्तव्य है।

४. अनुष्टुप् छन्द प्रयुक्त हुआ है। लक्षण पूर्ववत् ।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

१. अम्भः ददाति इति अम्भोदः, अम्भस् + √दा + क

२. अम्भोदेषु वरः इति (सप्तमी तत्पुरुष) अम्भोदवरः

३. चातकस्य आधारः, चातकाधारः (षष्ठी तत्पुरुष)

४. कृपणस्य भावः कार्पण्यम् (षष्ठी तत्पुरुष) कृपण + ष्यञ् कार्पण्य

५. गावः चरन्ति अस्मिन् इति गोचरः

६. √वच् + क्तिन् = उक्तिः

परोपकारपद्धतिः

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-
र्नवाम्बुभिर्भूमि[३] विलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।।७४।।

---

३. भूरिविलम्बितः (अत्यधिक झुके हुए)

अन्वय– तरवः फलोद्गमैः नम्राः भवन्ति, घनाः नवाम्बुभिः भूमिविलम्बिनः (भवन्ति) सत्पुरुषाः समृद्धिभिः अनुद्धताः भवन्ति। एषः परोपकारिणाम् स्वभावः एव भवति।

अनुवाद– पेड़ फलों के आने से विनम्र हो जाते हैं, बादल नये जलों से और अधिक पृथ्वी पर झुक (जाते हैं), सज्जन सम्पन्नता से अहंकार रहित (हो जाते हैं)। (वस्तुतः) यह परोपकारियों का स्वभाव ही होता है।

व्याख्या– परोपकारी लोगों का यह स्वभाव है कि वे समृद्धि आने पर अपेक्षाकृत और अधिक विनम्र हो जाते हैं। इसी सम्बन्ध में कवि वृक्षों बादलों और सज्जनों का उदाहरण देते हुए कहता है कि- वृक्षों पर फल आने से वे मानों नम्रतावश झुक जाते हैं।

इसी प्रकार वर्षा ऋतु में नये नये जलों से भरे हुए बादल पृथ्वी की ओर उसे सिञ्चित करने के लिए मानो विनम्र होकर पृथ्वी के निकट आ जाते हैं। यह भी समृद्धि होने पर उनके नम्र स्वभाव का ही परिणाम है।

ठीक इसी प्रकार सज्जन स्वभाव के लोग यदि उनके पास धन-धान्य, ऐश्वर्य, सम्पत्तियाँ आदि आती हैं तो उनका व्यवहार अपने सेवकों, मित्रों आदि के प्रति और अधिक नम्र हो जाता है।

विशेष– १. यद्यपि वृक्ष फलों के बोझ से, बादल जलों के बोझ से नीचे झुकते हैं, किन्तु कवि इसमें कल्पना करता है कि वे वस्तुतः समृद्धि आने पर झुक जाते हैं।

२. प्रकृति का मानवीकरण करने का प्रयास किया है।

३. प्रस्तुत श्लोक में परोपकारियों के स्वभाव का विश्लेषण किया गया है।

४. वंशस्थ छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है—

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

५. अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. फलानाम् उद्गमः फलोद्गमः तैः, फलोद्गमैः (षष्ठी तत्पुरुष)

२. उत् + √गम् + घञ् = उद्गमः

३. √नम् + र (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) नम्राः

४. न उद्धताः इति (नञ् समास) अनुद्धताः

५. उत् + √हन् + क्त = उद्धतः

६. परेषां उपकारः, परोपकारः (षष्ठी तत्पुरुष)

७. परोपकार + इनि (पुल्लिंग, षष्ठी विभक्ति, बहुवचन) परोपकारिणाम्

८. नवानि अम्बूनि नवाम्बूनि तैः (कर्मधारय समास) नवाम्बुभिः

९. सम् + √ऋध् (वृद्धौ) + क्तिन् (स्त्रीलिंग, तृतीया विभक्ति, बहुवचन) समृद्धिभिः

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन,
दानेन पाणिं र्न तु कङ्कणेन।
विभाति कायः करुणापराणां,
परोपकारै र्न तु चन्दनेन।।७५।।

अन्वय– श्रोत्रम् श्रुतेन एव (विभाति) कुण्डलेन न पाणिः दानेन (विभाति) तु कङ्कणेन न, करुणापराणाम् कायः परोपकारैः विभाति, चन्दनेन न।

अनुवाद– कान शास्त्र-श्रवण से ही (शोभा पाता है), कुण्डल से नहीं, हाथ दान से (सुशोभित होता है), किन्तु कङ्गन से नहीं, दयावान् लोगों का शरीर परोपकार (के कार्यो) से सुशोभित होता है, चन्दन से नहीं।

व्याख्या– सामान्यतः व्यक्ति कानों की शोभा बढ़ाने के लिए कुण्डल आदि धारण करता है, किन्तु कवि ने इससे असहमति व्यक्त करते हुए कानों के लिए शास्त्रों के श्रवण को ही सबसे सुन्दर और महत्त्वपूर्ण आभूषण माना है।

इसी प्रकार मनुष्य हाथों की सुन्दरता में वृद्धि के लिए सोने-चाँदी कंगन आदि के आभूषण धारण करता है, किन्तु कवि ने इससे भी असहमति व्यक्त करते हुए कहा कि हाथों की सुन्दरता में बढ़ोतरी के लिए मनुष्य को अधिक से अधिक दान देना चाहिए।

पुनः कवि कहता है कि लोग अपने शरीर की सुन्दरता बढ़ाने के लिए चन्दन आदि का लेप करते हैं जो उचित नहीं है, क्योंकि सुगन्धित चन्दन आदि के लेप करने से शरीर की शोभा नहीं बढ़ती, अपितु शरीर की सुन्दरता परोपकारपूर्ण कार्य करने से ही होती है। अतः व्यक्ति को अपने शरीर से सदैव परोपकारपूर्ण कार्य करने चाहिएँ।

विशेष– १. मनुष्य को सदैव कानों की सुन्दरता बढ़ाने के लिए शास्त्रों का श्रवण, हाथों की सुन्दरता के लिए अधिकाधिक दान तथा शरीर की सुन्दरता के लिए, परोपकारपूर्ण कार्य करने चाहिएँ।

२. उपजाति छन्द का प्रयोग हुआ है— लक्षण पूर्ववत् है।

३. क्रियादीपक अलंकार का प्रयोग दर्शनीय है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √श्रु + ष्ट्रन् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) श्रोत्रम्
२. करुणा + परा (श्रेष्ठा) येषाम् ते करुणापराः, तेषाम् करुणापराणाम्
३. वि + √भा (दीप्तौ) + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) विभाति
४. श्रुतेन + एव (वृद्धि— वृद्धिरेचि— अ + ए = ऐ)
५. पाणिः + न (विसर्ग संधि - ससजुषो रुः) :— र्
६. परोपकारैः + न (विसर्ग संधि - ससजुषो रुः) :— र्
७. पर + उप + √कृ + घञ् (परोपकारः) तैः ,परोपकारैः

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति,

चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्।

नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति,

सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः॥७६॥

अन्वय– दिनकरः पद्माकरम् विकचीकरोति, चन्द्रः कैरवचक्रवालम् विकासयति, जलधरः अपि न अभ्यर्थितः जलम् ददाति, सन्तः स्वयम् परहितेषु कृताभियोगाः (भवन्ति)।

अनुवाद– सूर्य कमल समूह को विकसित करता है, चन्द्रमा कुमुदों के समूह को खिलाता है, बादल भी बिना मांगे (ही) जल देता है। (वस्तुतः) सज्जन लोग स्वयं दूसरों के हित साधन में प्रयास करने वाले (होते हैं)।

व्याख्या– सज्जन बिना किसी की प्रेरणा के स्वयं ही दूसरों का हित करने वाले कार्यों के लिए परिश्रमशील होते हैं, इस बात को तीन उदाहरण देकर पुष्ट करते हुए कवि कहता है कि–

सत्पुरुषों का यह स्वभाव ही होता है कि वे दूसरे के लिए स्वयं ही कार्य करते हैं जैसे- सूर्य को कोई भी कमलवन को प्रफुल्लित करने, खिलाने के लिए नहीं कहता है, अपितु वह तो प्रतिदिन स्वयं ही उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करता है।

इसी प्रकार चन्द्रमा भी बिना किसी की प्रेरणा के कुमुदों के वन को विकसित करता है, क्योंकि परोपकार चन्द्रमा का स्वभाव है। ठीक इसी प्रकार बादल भी बिना मांगे ही इस सम्पूर्ण संसार को स्वतः ही जल प्रदान करते हैं।

विशेष– १. सज्जनों को दूसरे के हित का कार्य करने की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती, अपितु यह तो वे स्वतः प्रेरित होकर करते हैं।

२. कुमुदों की विशेषता है कि वे चन्द्र-दर्शन से खिलते हैं और कमल सूर्य-दर्शन से विकसित होते हैं।

३. सज्जनों के स्वभाव का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है।

४. अन्तिम चरण की सामान्य बात का प्रथम तीन चरणों में कहीं गई बातों से समर्थन के कारण अर्थान्तरन्यास अलंकार– लक्षण इस प्रकार है–

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।

यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥

५. वसन्ततिलका छन्द प्रयुक्त हुआ है, लक्षण इस प्रकार है–

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. दिनं करोति इति दिनकरः (द्वितीया तत्पुरुष)

२. पद्मनाम् आकरम्, पद्माकरम् (षष्ठी तत्पुरुष)

३. कैरवाणाम् चक्रवालम् (षष्ठी तत्पुरुष) कैरवचक्रवालम्

४. वि + √कास् + णिच् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) विकासयति

५. जलं धरति इति, जलधरः (द्वितीया तत्पुरुष)

६. अभि + √अर्थ + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) अभ्यर्थितः

७. कृतः अभियोगः यैः, ते (बहुव्रीहि) कृताभियोगः

८. अभि + √युज् + घञ् = अभियोगः

९. न + अभ्यर्थितः + जलधरः + अपि

दीर्घ संधि	**विसर्ग संधि**	**विसर्ग संधि**
(अकः सवर्णे दीर्घः)	(हशि च)	(अतोरोर्प्लुतादप्लुते)
(अ + अ = आ)	(:— उ - ओ)	(:— उ— ओ)

१०. वि + √धा + क्त = विहितः

११. विकच + च्वि + √कृ + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) विकचीकरोति

एके[1] सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥७७॥

अन्वय– एके सत्पुरुषाः ये स्वार्थम् परित्यज्य परार्थघटकाः (भवन्ति) ये स्वार्थाविरोधेन परार्थम् उद्यमभृतः, ते तु सामान्याः (भवन्ति), ये स्वार्थाय परहितम् निघ्नन्ति, अमी ते मानुषराक्षसाः (भवन्ति), (किन्तु) ये निरर्थकम् (एव) परिहतम् निघ्नन्ति, ते के न जानीमहे।

अनुवाद– एक (तो) सज्जन हैं, जो स्वार्थ को छोड़कर दूसरों का प्रयोजन सिद्ध करने वाले (होते हैं), जो स्वार्थ के साथ विरोध न होने पर दूसरों के कार्य के लिए परिश्रम करने वाले हैं, वे तो सामान्य (होते हैं), जो स्वार्थ के लिए दूसरों के हित का हनन करते हैं, ये वे मनुष्य रूपी राक्षस (होते हैं), (किन्तु) जो निरर्थक (ही) परहित का हनन करते हैं, वे कौन (हैं), (यह हम) नहीं जानते हैं।

व्याख्या– सज्जन लोग स्वार्थ का परित्याग करके दूसरों के लिए निरन्तर प्रयासरत रहते हैं, उनकी प्रत्येक क्रिया परोपकार के लिए होती है स्वार्थ के लिए नहीं, इसके अतिरिक्त कुछ लोग अपना कोई नुकसान न हो अथवा अपना कार्य भी हो जाए तो उस

---

१. एते

स्थिति में दूसरों का हित साधन करने के लिए तत्पर रहते हैं, इस प्रकार के लोगों को कवि ने सामान्य व्यक्ति कहा है, क्योंकि उनकी दृष्टि में स्वार्थ प्रमुख रहता है और संसार में ऐसे लोग संख्या में अधिक भी होते हैं।

किन्तु इसके साथ-साथ इस संसार में कुछ लोग अपने हित साधन के लिए दूसरों के हितों की हानि करने से भी नहीं चूकते है, ऐसे लोगों को कवि मनुष्य रूपी राक्षस कहता है, अर्थात् केवल स्वार्थमयी वृत्ति वाले लोग मनुष्यों के रूप में राक्षस ही हैं।

इस तीन प्रकार के लोगों— सज्जन, सामान्य और मनुष्यरूपी राक्षसों का कथन करने के बाद एक चौथे प्रकार की श्रेणी का उल्लेख करते हुए कवि कहता है कि इन सबके विपरीत इस संसार में कुछ लोग इस प्रकार के भी होते हैं जो व्यर्थ ही परहित का हनन करते रहते हैं, अर्थात् दूसरों का काम बिगाड़ने, उनका नुकसान करने में उन्हें आनन्द आता है, यद्यपि उनके नुकसान से उनका अपना कोई लाभ नहीं होता है। अन्त में कवि कहता है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति वाले लोगों को हम क्या नाम दें, यह तो हमारी समझ में भी नहीं आता है, अर्थात् इस प्रकार की वृत्ति वाले लोगों के लिए कोई निष्कृष्टतम नाम भी हमारे पास नहीं है।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक में कवि ने मनुष्यों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है— सज्जन, सामान्य, मानुष-राक्षस, सर्वाधिक निकृष्ट।

२. आजकल हमें संसार में चतुर्थ श्रेणी के लोग अधिक देखने को मिलते हैं।

३. उक्त चारों श्रेणियों का आधार स्वार्थ और परार्थ ही है।

४. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण—

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

५. मानुषराक्षसाः में रूपक अलंकार मनुष्यरूपी राक्षस, लक्षण—

तद् रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. परि + √त्यज् + ल्यप् = परित्यज्य

२. √घट् + णिच् + ण्वुल् = घटकः ते घटकाः (प्रथमा विभक्ति, बहुवचन)

३. स्वार्थस्य अविरोधः स्वार्थाविरोधः तेन स्वार्थाविरोधेन

४. उद्यमम् बिभ्रति इति (द्वितीया तत्पुरुष) उद्यमभृतः

५. उद्यम + √भृ + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) उद्यमभृतः

६. नि + √हन् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) निघ्नन्ति

७. मानुषेषु राक्षसाः (सप्तमी तत्पुरुष) मानुषराक्षसाः

८. उत् + √यम् + अप् = उद्यमः

९. निर्गतः अर्थः यस्मात्, तत् निरर्थकम्

१०. सामान्याः + तु (विसर्ग - विसर्जनीयस्य सः)

११. स्वार्थ + अविरोधेन (दीर्घ – अकः सवर्णे दीर्घः)

१२. न विरोधेन इति अविरोधेन (नञ् समास)

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं च निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः।।७८।।

अन्वय– (सन्मित्रम्) पापात् निवारयति, हिताय योजयते, गुह्यम् च गूहति, गुणान् प्रकटीकरोति, आपद्गतम् च जहाति न, काले ददाति, सन्तः इदम् सन्मित्रलक्षणम् प्रवदन्ति।

अनुवाद– (श्रेष्ठ मित्र) पाप से रोकता है, हित के लिए लगाता है और गोपनीय को छिपाता है, गुणों को प्रकट करता है, आपत्ति में पड़ने पर छोड़ता नहीं है, समय पड़ने पर (साथ) देता है। सज्जन लोग अच्छे मित्र के यह लक्षण कहते हैं।

व्याख्या– इस संसार में श्रेष्ठ मित्र का अत्यन्त महत्त्व है, किन्तु उसे पहचानने में लोग प्रायः भूल कर जाते हैं। इसीलिए यहाँ कवि ने श्रेष्ठ मित्र के लक्षणों का उल्लेख किया है—

अच्छा मित्र सदैव अपने मित्र को पापपूर्ण अनुचित कार्यों को करने से रोकता है तथा जो उसके हित के लिए हों, ऐसे कार्यों के प्रति उसे सदैव प्रेरित करता है। मित्र की जो बातें छिपाने योग्य होती हैं उन्हें कहीं भी नहीं कहता, अपितु छिपाकर अपने पास ही रखता है। इसके विपरीत अपने मित्र के गुणों को, अच्छी-अच्छी बातों, को सार्वजनिक रूप से बताता है।

मित्र के आपत्ति में पड़ने पर उसका साथ नहीं छोड़ता है, अपितु उस समय उसका पूरा-पूरा साथ देता है, कठिन परिस्थितियों में यदि मित्र को आर्थिक सहयोग की आवश्यकता होती है तो पीछे नहीं हटता, अपितु पूरा-पूरा सहयोग करता है।

सज्जनों ने श्रेष्ठ मित्र के ये ही संक्षेप में लक्षण बताए हैं।

विशेष– १. सामान्यतः मित्रता स्वार्थवश अधिक होती है, इसलिए मित्रता में प्रायः लोगों को धोखा हो जाता है। प्रस्तुतः श्लोक में कवि ने श्रेष्ठ मित्र की पहचान का सहज उपाय बताया है।

२. यहाँ ''ददाति काले'' का अर्थ, समय पर साथ देना भी किया जा सकता है और समय पड़ने पर आर्थिक मदद देना भी किया जा सकता है।

३. वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

४. समुच्चय अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. नि + √वृ + णिच् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) निवारयति
२. नि + √गुह् + क्यप् (गुह्यम्)
३. नि + √गुह् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) निगूहति
४. प्रकट + च्वि + √कृ + ति (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) प्रकटी करोति
५. प्रापात् + निवारयति (व्यञ्जन— वा पदान्तस्य)
६. प्र + √वद् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) प्रवदन्ति

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः,
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदं,
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी॥७९॥

अन्वय– पुरा क्षीरेण ते अखिलाः गुणाः आत्मगतोदकाय हि दत्ताः, (पुनः) तेन पयसा क्षीरे तापम् अवेक्ष्य स्वात्मा कृशानौ हुतः। तत् तु मित्रापदम् दृष्ट्वा पावकम् गन्तुम् उन्मनः अभवत् पुनः तेन जलेन युक्तम् शाम्यति। सताम् मैत्री ईदृशी (एव) (भवति)

अनुवाद– पहले दूध के द्वारा वे सभी गुण अपने में गिरे हुए जल को ही दे दिए, (पुनः) उस जल द्वारा दूध में ताप को देखकर स्वयं को अग्नि में डाल दिया और वह (दूध) मित्र की आपत्ति को देखकर अग्नि में जाने के लिए बेचैन हो गया (और) फिर उस जल से युक्त हुआ (ही) शान्त हो सका। सज्जनों की मित्रता ऐसी (ही होती है)।

व्याख्या– सज्जनों की मित्रता को समझाने के लिए दूध और पानी का उदाहरण दिया गया है। पहले तो जब दूध में पानी मिलाया गया तो दूध ने अपने सारे गुण उस पानी को दे दिये। इसी प्रकार अच्छे मित्र अपने अच्छे गुण सहज ही मित्र को प्रदान कर देते हैं।

पुनः जब जल ने दूध को उबलते हुए संतप्त अवस्था में देखा तो उसे आपत्ति से बचाने के लिए उसने अग्नि (बुझाने के लिए) स्वयं को अग्नि में डाल दिया और अपने प्राणों की बलि देकर मित्र की रक्षा की, किन्तु जब दूध ने पानी को अग्नि में गिरते हुए आपद्ग्रस्त जाना तो वह भी उबाल के रूप में अग्नि में जाने को व्याकुल हो गया।

इसी प्रकार अच्छा मित्र अपने मित्र को आपत्ति में फंसा हुआ देखकर उसे बचाने के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता और अपने मित्र से मिलकर ही उसकी व्याकुलता शान्त होती है।

ठीक इसी प्रकार जल भी अपने मित्र दूध से मिलकर शान्त हुआ। वास्तव में सज्जनों की मित्रता ऐसी ही होती है।

विशेष– १. दूध में उबाल कम करने के लिए, अग्नि बुझाने हेतु उसपर पानी डाला जाता है। (यह आधुनिक– गैस के युग की बात नहीं है)।

२. फिर भी यदि दूध का उबाल नहीं रुकता तो दूध में ही पानी के छींटे डाले जाते हैं।

३. दूध और जल की स्वाभाविक क्रिया में प्राणाहुत की सम्भावना के कारण उत्प्रेक्षालंकार, लक्षण इस प्रकार है–

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।

४. शार्दूलविक्रीडित छन्द, लक्षण इस प्रकार है–

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. अव + √ईक्ष् + ल्यप् = अवेक्ष्य

२. गम् + तुमुन् = गन्तुम्

३. आत्मानम् गतम् आत्मगतम्, तादृशम् उदकम् तस्मै आत्मगतोदकाय

४. क्षीर + उत् + √तप् + घञ् = क्षीरोत्तापः, तम् = क्षीरोत्तापम्

५. √हु + क्त = हुतः

६. √पू + ण्वुल् = पावकः तम्, पावकम्

७. √युज् + क्त = युक्तः तम्, युक्तम्

८. मित्र + अण् + ङीप् = मैत्री

९. √शम् + णिच् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) शाम्यति

१०. मित्रस्य आपदम् मित्रापदम् (षष्ठी तत्पुरुष)

११. क्षीरेण + आत्मगत + उदकाय (दीर्घ - अकः सवर्णे दीर्घः, गुण - आद् गुणः अ + उ = ओ)

१२. पुनः + तु + ईदृशी (विसर्जनीयस्य सः, इकोयणचि)

१३. ते + अखिलाः (एङः पदान्तादति)

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीय द्विषां,
इतश्च शरणार्थिनां शिखरिणां गणाः शेरते।
इतश्च वडवानलः सह समस्तसंवर्तकैः,
अहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः।।८०।।

अन्वय– इतः केशवः स्वपिति, इतः तदीय द्विषाम् कुलम् (स्वपिति), इतः च शरणार्थिनाम् शिखरिणाम् गणाः शेरते। इतः च समस्त संवर्तकैः सह वडवानलः (स्वपिति), अहो सिन्धो वपुः (कीदृशम्) विततम्, ऊर्जितम् भरसहम् च अस्ति।

अनुवाद– इधर विष्णु सो रहे हैं, इधर उनके शत्रुओं का समूह (सो रहा है) और इधर शरणार्थी पर्वतों के समूह सो रहे हैं, और इधर सभी (प्रलयकालीन बादल) संवर्तकादि के साथ वडवानल (सो रहा है), आश्चर्य है, समुद्र का शरीर (कितना) विस्तृत, शक्तिशाली और भार को सहन करने वाला है।

व्याख्या– महापुरुषों की सामर्थ्य की कोई सीमा नहीं होती, इस बात का कथन समुद्र का उदाहरण देकर बताया गया है कि इसमें एक कोने में समस्त संसार के पालक भगवान् विष्णु शयन कर रहे हैं और इसी में दूसरी ओर देवों के शत्रु राक्षस, वह भी एक दो नहीं, अपितु पूरा समूह ही शयन कर रहा है, इतना ही नहीं, इसी में एक ओर इन्द्र के वज्र से बचने के लिए भाग कर शरण में आए हुए मैनाक आदि पर्वतों का समूह शयन कर रहा है।

इतना ही नहीं इसी विशाल सामर्थ्य वाले समुद्र में प्रलयकाल में भयंकर विनाश करने वाले, शक्तिशाली, संवर्तक आदि बादलों के साथ समुद्र की आग वडवानल भी विराजमान है।

इस सबको देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता हैं कि इस समुद्र की शक्ति, सामर्थ्य और विशालता अत्यन्त अद्भुत एवं वाङ्मनस् अगोचर है।

विशेष– १. महापुरुषों की सामर्थ्य को सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता है, वे निस्सीम होती हैं।

२. यहाँ समुद्र महापुरुष का प्रतीक है, अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग दर्शनीय है।

३. प्रस्तुत शलोक में राक्षसादि सभी के शयन की बात कही गयी है, इससे भी समुद्र की विशालता का अतिरेक अभिव्यञ्जित हो रहा है, क्योंकि ये सभी समुद्र में कष्ट से एक दूसरे के ऊपर पड़े हुए नहीं है, अपितु आराम से शयन कर रहे हैं।

४. समुद्र की शरणागतवत्सलता की भी अभिव्यक्ति हो रही है।

५. अग्नि तीन प्रकार की होती है– वन की आग–दावानल, पेट की आग–जठरानल और समुद्र की आग–वडवानल। इस वडवानल के ही कारण समुद्र में बादल बनते हैं।

६. अग्नि से उत्पन्न बादलों का समूह संवर्तक नाम से जाना जाता है, यह प्रलयकाल में अत्यन्त विध्वंस करता है।

७. पुराणों में कथा आती है कि जब इन्द्र पर्वतों के पंख काट रहा था तो कुछ मैनाकादि पर्वत स्वयं को बचाने के लिए समुद्र में जाकर छिप गए थे।

८. पृथ्वी छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है–

जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।

९. 'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र से 'संवर्तकैः' में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

१०. अहो यहाँ आश्चर्यातिरेक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. इदम् + तसिल् = इतः

२. शिखर + इनि (पुल्लिंग, षष्ठी विभक्ति, बहुवचन) शिखरिणाम्

३. समस्तैः संवर्तकैः (अव्ययीभाव) समस्तसंवर्तकैः

४. वि + √तन् + क्त (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) विततम्

५. ऊर्जा + इतच् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) अर्जितम्

६. भरं सहते इति, भरसहम्

७. द्विट् + आम् (षष्ठी विभक्ति, बहुवचन) द्विषाम्

८. शरण + अर्थ + णिनि = शरणार्थिन् तेषाम्, शरणार्थिनाम्

९. बलं वाति इति, बल + वा + क + टाप् = वडवा (डलयोरैक्यात् लस्य डत्वम्) वडवायाः अनलः = वडवानलः।

जातः कूर्म स एकः पृथुभुवनभरायार्पितं येन पृष्ठं,
श्लाघ्यं जन्म ध्रुवस्य भ्रमति नियमितं यत्र तेजस्विचक्रम्।
संजातव्यर्थपक्षाः परहितकरणे नोपरिष्ठान्न चाधो,
ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवदपरे जन्तवो जातनष्टाः॥८१॥

अन्वय– सः एकः कूर्मः जातः, येन पृथुभुवनभराय पृष्ठम् अर्पितम्, ध्रुवस्य जन्म (अपि) श्लाघ्यम्, यत्र तेजस्विचक्रम् नियमितम् (भूत्वा) भ्रमति। परहितकरणे संजात व्यर्थपक्षाः अपरेजन्तवः न उपरिष्टात् न च अधः (किमपि कुर्वन्ति), (अपितु) ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवत् जातनष्टाः (भवन्ति)।

अनुवाद– वह अकेला कछुआ पैदा हुआ, जिसने विशाल भुवनों के भार के लिए (अपनी) पीठ को अर्पित कर दिया। ध्रुव का जन्म (भी) प्रशंसनीय है, जहाँ तेजस्वी चक्र नियमित रूप से भ्रमण करता है। परोपकार में जिनके पक्ष व्यर्थ ही उत्पन्न हुए हैं (ऐसे) अन्य प्राणी न ऊपर और न ही नीचे (कुछ करते हैं, अपितु) ब्रह्माण्ड रूपी गूलर के भीतर मच्छरों के समान उत्पन्न होकर नष्ट (होते रहते हैं)।

व्याख्या– परोपकार करने से ही मनुष्य के जीवन की सार्थकता है, इस बात को एक पाताल में स्थित कच्छपराज का और दूसरा अन्तरिक्ष में स्थित ध्रुव का उदाहरण देकर समझाते हुए कवि कहता है कि–

उस कछुवे का जन्म सार्थक है भले ही वह पाताल में स्थित क्यों न हो, क्योंकि उसने सम्पूर्ण भुवनों के गुरुतर भार को वहन करने के लिए स्वेच्छा से अपनी पीठ को समर्पित कर दिया। साथ ही अन्तरिक्ष में स्थित ध्रुव का जन्म भी प्रशंसनीय है, क्योंकि सम्पूर्ण अन्तरिक्षमण्डल में स्थित तेजस्वी ग्रह उसी को केन्द्र बनाकर नियमित रूप से

भ्रमण कर पाते हैं अर्थात् एक मात्र ध्रुव के आधार पर ही तेजस्वी ग्रहों का समूह जीवित है, अस्तित्व बनाए हुए है।

इसके विपरीत परोपकार पूर्ण कार्यों में जिनकी लेशमात्र भी रुचि (पक्ष) नहीं है, ऐसे दूसरे अनेक प्राणी न तो उच्च पदों पर स्थित होकर ही कुछ कर पाते हैं और न ही किसी नीचे पद पर आसीन होकर ही कुछ करते हैं।

इस प्रकार के प्राणी वस्तुतः गूलर नामक फल के अन्दर स्थित उन मच्छरों के समान होते हैं, जो इस ब्रह्माण्ड रूपी गूलर में पैदा होकर निरर्थक ही आते हैं और चले जाते हैं। वास्तव में उनका जीवन निरर्थक होता है।

विशेष– १. परोपकार पूर्ण कार्यों से ही जीवन की सार्थकता है, इसका अत्यन्त सुन्दर प्रतिपादन उदाहरण सहित किया गया है।

२. ब्रह्माण्ड रूपी गूलर में अभेद की स्थापना की गई है, अतः रूपक अलंकार, लक्षण इस प्रकार है—

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

३. अन्तरिक्षमण्डल में स्थित ध्रुव को सम्पूर्ण तारामण्डल का केन्द्र माना गया है, उसी के चारों ओर सभी ग्रह चक्कर लगाते हैं।

४. पुराणों के अनुसार सम्पूर्ण भुवनों के भार को कच्छपावतार अपनी पीठ पर धारण किए हुए हैं।

५. स्रग्धरा छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है—

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण, त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।

६. उदुम्बर गूलर को कहते हैं, पकने पर उसमें बहुत से छोटे-छोटे मच्छर हो जाते हैं। स्वाद मीठा होता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √जन् + क्त = जातः

२. √श्लाघ् + ण्यत् = श्लाघ्यम्

३. सम् + √जन् + क्त = संजातः

४. परेषां हितं परहितं तेषां, करणे, परहितकरणे

५. पृथुभुवनं तस्य भरः तस्मै= पृथुभुवनभराय

६. ब्रह्मणः अण्डं ब्रह्माण्डम्, ब्रह्माण्डम् एव उदरं तस्य, अन्तः तत्र मशकाः ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तमशकाः तद्वत्।

७. √भ्रम् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) = भ्रमति

८. न + उपरिष्टात् + न (गुण - आद् गुणः, व्यञ्जन)

९. नि + √यम् + णिच् + क्त = नियमितम् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

तृष्णां छिन्धि[1] भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः,
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम्।
मान्यान् मानय विद्विशोऽप्यनुनय प्रच्छादय[2] स्वान्गुणान्,
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत् सतां लक्षणम्।।८२।।

अन्वय– तृष्णाम् छिन्धि, क्षमाम् भज, मदम् जहि, पापे रतिम् मा कृथाः, सत्यम् ब्रूहि, साधु-पदवीम् अनुयाहि, विद्वज्जनम्, सेवस्व, मान्यान् मानय, विद्विषः अपि अनुनय, स्वान् गुणान् प्रच्छादय, कीर्तिम् पालय, दुःखिते दयाम् कुरु, सताम् एतत् लक्षणम्।

अनुवाद– लोभ का नाश करो, क्षमा का पालन करो, अहंकार का त्याग करो, पाप में प्रेम मत करो, सत्य बोलो, सज्जनों के मार्ग का अनुसरण करो, विद्वज्जनों की सेवा करो, सम्माननीय (लोगों) का सम्मान करो, शत्रुओं को भी प्रसन्न करो, अपने गुणों को छिपाओ, यश का पालन करो, दुःखी पर दया करो, सज्जनों के यह लक्षण हैं।

व्याख्या– सज्जन बनने के लिए हमें किस प्रकार का आचरण करना चाहिए, इसी बात का प्रतिपादन प्रस्तुत श्लोक में किया गया है— हमें कभी भी लालच नहीं करना चाहिए, सदैव क्षमा का पालन करना चाहिए, कभी भी किसी भी बात का अहंकार नहीं करना चाहिए, पापपूर्ण कार्यों मे कभी भी अनुराग नहीं करना चाहिए, सदैव सत्यभाषण करना चाहिए, सज्जनों द्वारा बताए गए मार्ग पर ही सदैव चलना चाहिए, विद्वानों की सेवा करनी चाहिए, जो सम्मान एवं आदर के पात्र हैं, ऐसे लोगों का सदैव सम्मान करना चाहिए, अपने शत्रुओं को भी सदैव प्रसन्न करने के प्रयास करने चाहिएँ, स्वयं के गुणों का प्रख्यापन नहीं करना चाहिए अर्थात् आत्मप्रशंसा नहीं करनी चाहिए। ऐसे कार्य करने चाहिए जिनसे हम यश के भागी बने, दुःखियों पर सदैव दया करनी चाहिए, इस प्रकार का आचरण करने से ही व्यक्ति सज्जन कहलाता है।

विशेष– १. सज्जनों के गुणों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है।

२. शार्दूलविक्रीडित छन्द, लक्षण—

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √हा + सिप् (लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन) जहि
२. √मन् + ण्यत् (पुल्लिंग, द्वितीया विभक्ति, बहुवचन) मान्यान्
३. वि + √द्विष् + क्विप् (पुल्लिंग, द्वितीया विभक्ति, बहुवचन) विद्विषः
४. प्र + √छद् + णिच् (लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन) प्रच्छादय

---

१. छिन्दि
२. प्राख्यापय (प्रकट करो)

५. √पाल् + सिप् (लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन) पालय

६. दु:ख + इतच् (पुल्लिंग, सप्तमी विभक्ति, एकवचन) दु:खिते

७. √हन् + सिप् (लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन) जहि

८. √मान् + णिच् (लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन) मानय

९. प्र + √श्रि + अच् = प्रश्रय:, तम् प्रश्रयम्

१०. प्र + √ख्या + णिच् (लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन) प्रख्यापय

११. ब्रूहि + अनुयाहि (यण् - इ— य् - इकोयणचि)

१२. विद्विष: + अपि + अनुनय (अतो रोरप्लुतादप्लुते :— उ— ओ (इकोयणचि इ— य्)

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभि: प्रीणयन्त:।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं,
निज हृदि विकसन्त: सन्ति सन्त: कियन्त:॥८३॥

अन्वय– मनसि वचसि काये पुण्य-पीयूष-पूर्णा:, उपकार-श्रेणिभि: त्रिभुवनम् प्रीणयन्त:, पर-गुण-परमाणून् पर्वतीकृत्य निज हृदि नित्यम् विकसन्त:, सन्त: कियन्त: सन्ति।

अनुवाद– मन, वाणी और शरीर में पुण्य रूपी अमृत से परिपूर्ण, उपकार परम्परा से तीनों लोकों को प्रसन्न करते हुए, दूसरों के परमाणु के समान (छोटे) गुणों को पर्वत के समान बनाकर, अपने में ही सदैव आनन्दित होते हुए सज्जन लोग (इस संसार में) कितने हैं।

व्याख्या– जो लोग सदैव मन, वाणी और कर्म के द्वारा पुण्यशाली कार्य ही करते हैं अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा जिनकी भूल से भी पापपूर्ण कार्यों में गति नहीं रहती, सदैव ही परोपकारपूर्ण कार्यों के द्वारा तीनों लोकों को प्रसन्न करते रहते हैं अर्थात् जिनकी परोपकारपूर्ण कार्यों में ही रुचि रहती है, स्वार्थपूर्ण कार्यों में नहीं। यदि कोई अन्य व्यक्ति अत्यन्त छोटा-सा भी उपकार उनके ऊपर कर देता है अथवा उसमें यदि छोटे से छोटा भी कोई गुण होता है तो उसे सदा ही अत्यन्त बढ़ा चढ़ा कर सम्मानपूर्वक दूसरों के सामने उसका कथन करते हैं तथा आत्मानन्द में सदैव लीन रहते हैं अथवा आत्मालोचन में ही सदा संलग्न रहते हैं, परनिन्दा आदि नहीं करते। इस प्रकार के सज्जन लोग इस संसार में कितने से है अर्थात् इस प्रकार की विशेषता वाले सज्जन यहाँ केवल अंगुलिगण्य ही हैं। उनकी संख्या अधिक नहीं है।

विशेष– १. सज्जनों की संख्या इस संसार में अत्यल्प ही होती है।

२. सज्जनों के गुणों का अत्यन्त संक्षेप में मनोहर शैली में कथन किया गया है।

३. मालिनी छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।

४. अर्थापत्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. पुण्यं एव पीयूषं पुण्यपीयूषम्, तेन पूर्णाः पुण्यपीयूषपूर्णा
२. उपकाराणां श्रेणिभिः = उपकारश्रेणिभिः (षष्ठी तत्पुरुष)
३. त्रयाणां भुवनानां समाहारः त्रिभुवनम् (द्विगु समास)
४. √प्रीञ् + णिच् + शतृ (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) प्रीणयन्तः
५. पर्वत + च्वि +√ कृ + ल्यप् = पर्वतीकृत्य (अपर्वतान् पर्वतान् कृत्य)
६. निजस्य हृदि (षष्ठी तत्पुरुष) निजहृदि
७. वि + √कस् + शतृ (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) विकसन्तः
८. √पृ + क्त (पूर्णः)

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा,
यत्राश्रिता हि तरवस्तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण,
कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः॥८४॥

अन्वय– तेन हेम-गिरिणा रजताद्रिणा वा किम्, यत्र आश्रिताः हि ते तरवः, तरवः एव। (वयम् तु) मलयम् एव मन्यामहे, यत् आश्रयेण कङ्कोल-निम्ब-कुटजाः अपि चन्दनाः (स्युः)।

अनुवाद– उस स्वर्ण पर्वत अथवा चाँदी के पर्वत से क्या (लाभ) जिस पर आश्रित वे वृक्ष, वृक्ष ही (हैं)। (हम तो) मलय (पर्वत) को ही (श्रेष्ठ) मानते हैं, जिसके आश्रय से कङ्कोल, नीम और कुटज (के वृक्ष) भी चन्दन (हो जाते हैं)।

व्याख्या– स्वर्ण पर्वत एवं चाँदी के पर्वत की अपेक्षा मलयपर्वत को कवि श्रेष्ठ बताता हुआ कहता है कि सोने के पर्वत पर तथा चाँदी के पर्वत पर जो वृक्ष उगते हैं। उनमें न तो सोने की पत्तियाँ आती न चाँदी के फल अर्थात् वृक्षों में उनकी संगति का कोई असर दिखाई नहीं देता, वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं।

इसके विपरीत मलयाचल पर जो भी वृक्ष चाहे वे कङ्कोल के हों या नीम के अथवा फिर कुटज जैसे तुच्छ ही क्यों न हो, ये सभी चन्दन के सान्निध्य में रहने से चंदन के समान ही सुगन्धि वाले हो जाते हैं। अतः वस्तुतः मलयाचल ही प्रशंसनीय है। स्वर्ण अथवा रजत पर्वत नहीं।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक में स्वर्ण पर्वत एवं रजत पर्वत की अपेक्षा मलयाचल को अधिक श्रेष्ठ बताया है।

२. यहाँ मलयाचल सज्जन व्यक्ति का प्रतीक है जो अपने गुण दूसरों में संक्रमित कर देता है।

३. उपमान स्वर्ण एवं रजत पर्वत की अपेक्षा उपमेय मलय पर्वत की प्रशंसा करने तथा उसे श्रेष्ठ बताने के कारण व्यतिरेक अलंकार— लक्षण—

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।

४. वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

उक्ता वसन्ततिलका तभजाः जगौ गः।

५. किम् अव्यय यहाँ 'क्या लाभ' इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. हेम्नः गिरिः, हेमगिरिः तेन, हेमगिरिणा (षष्ठी तत्पुरुष)

२. रजतस्य अद्रिः रजताद्रिः, तेन रजताद्रिणा (षष्ठी तत्पुरुष)

३. कङ्कोलाश्च निम्बाश्च कुटजाश्च (द्वन्द्व समास) कङ्कोलनिम्बकुटजाः

४. यत्र + आश्रिताः (अ + आ = आ, अकः सवर्णे दीर्घः)

५. यत् + आश्रयेण (त्— द्, झलां जशोऽन्ते)

६. तरवः + तरवः + ते + एव (विसर्जनीयस्य सः :— स्)

७. √मन् + महिङ् (आत्मने पद, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन) मन्यामहे

धैर्य-पद्धतिः

रत्नैर्महार्हैः[1] स्तुतुषुर्न देवाः,
न भेजिरे भीमविषेण भीतिम्।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं,
न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः॥८५॥

अन्वय– देवाः महार्हैः रत्नैः न तुतुषुः, भीमविषेण भीतिम् भेजिरे न, सुधाम् विना विरामम् न प्रययुः, धीराः निश्चितार्थात् न विरमन्ति।

अनुवाद– देवता अत्यधिक मूल्यवान्, रत्नों से (भी) संतुष्ट नहीं हुए, भयानक विष से (भी) भय को प्राप्त नहीं हुए, अमृत के बिना विराम को प्राप्त नहीं हुए, धैर्यशाली निश्चित विषय से रुकते नहीं हैं।

व्याख्या– देवताओं ने समुद्र मंथन करके अमृत प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय किया, आरम्भ में उन्हें समुद्र से बहुमूल्य रत्नों की प्राप्ति हुई, किन्तु उन्हें प्राप्त करके संतुष्ट नहीं हुए और अमृत प्राप्ति की लिए प्रयासरत रहे।

---

१. महार्घैः

इसी क्रम में भयानक हलाहल विष भी निकला, किन्तु उससे भी वे विचलित नहीं हुए और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयास करते रहे और अन्त में उन्होंने अमृत प्राप्त करके ही विराम लिया।

इसी प्रकार जो धैर्यवान् लोग होते हैं वे एक बार निश्चय किए गए अपने लक्ष्य को प्राप्त किए बिना संतुष्ट नहीं होते हैं और अपने प्रयासों को रोकते नहीं हैं।

विशेष– १. धैर्यशाली लोगों के स्वभाव का उल्लेख किया है।

२. पौराणिक कथा है कि देवों और दैत्यों ने मिलकर अमृत-प्राप्ति के लिए मन्दराचल को मथानी और नागराज वासुकि को रस्सी बना कर समुद्र मंथन किया था। जिससे उन्हें १४ रत्नों की प्राप्ति हुई थी।

३. इसी क्रम में भयानक हलाहल भी प्राप्त हुआ, जिसे बाद में भगवान् शिव ने अपने कण्ठ में धारण किया. इसी से वे नीलकण्ठ कहलाए।

४. अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग हुआ है।

५. 'विना' के योग में 'सुधाम्' में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

६. उपसर्ग का प्रयोग होने से आत्मनेपदी 'रम्' धातु परस्मैपद के रूप में प्रयुक्त हुई है।

७. उपजाति छन्द का प्रयोग हुआ है।

८. लिट् लकार का प्रयोग ऐतिहासिक तथ्य का कथन करने के लिए किया जाता है। इसीलिए तुतुषुः, भेजिरे, प्रययुः में लिट् लकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. महान्ति अर्हणि महार्हाणि तैः, महार्हैः (कर्मधारय)

२. √तुष् + झि (लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) तुतुषुः

३. √भी + क्तिन् (स्त्रीलिंग, द्वितीया विभक्ति, एकवचन) भीतिम्

४. √भज् + झि (लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) भेजिरे

५. वि + √रम् + घञ् (पुल्लिंग, द्वितीया विभक्ति, एकवचन) विरामम्

६. प्र + √या + झि (लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) प्रययुः

७. निश्चितात् अर्थात् निश्चितार्थात् (अव्ययीभाव)

८. वि + √रम् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) विरमन्ति

९. भीमं विषम् भीमविषम्, तेन (कर्मधारय) भीमविषेण

१०. रत्नैः + महा + अर्हैः + तुतुषुः + न + देवाः + न (ससजुषो रुः, अकः सवर्णे दीर्घः, ससजुषो रुः)

११. √दिव् + अच् = देवः (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) देवाः

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै:,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या:।
विघ्नै: पुन: पुनरपि प्रतिहन्यमाना:,
प्रारभ्य चोत्तमजना[1] न परित्यजन्ति।।८६।।

अन्वय– नीचै: विघ्नभयेन खलु (कार्यम्) न प्रारभ्यते। मध्या: (कार्यम्) प्रारभ्य विघ्नविहता: विरमन्ति, उत्तमजना: च (कार्यम्) प्रारभ्य, विघ्नै: पुन: पुन: प्रतिहन्यमाना: अपि न परित्यजन्ति।

अनुवाद– निम्न (श्रेणी के व्यक्ति) विघ्नों के भय से निश्चय ही (कार्य को) प्रारम्भ नहीं करते हैं। मध्यम (स्वभाव वाले) (कार्य) प्रारम्भ करके विघ्नों से आहत होने पर रुक जाते हैं और उत्तम लोग (कार्य) प्रारम्भ करके विघ्नों से बार-बार आहत होते हुए भी नहीं छोड़ते हैं।

व्याख्या– प्रस्तुत श्लोक के अनुसार इस संसार में तीन प्रकार के लोग होते हैं, उत्तम, मध्यम और अधम। इनमें अधम अर्थात् निम्न श्रेणी के लोग किसी काम को केवल विघ्नों से डरकर शुरु ही नहीं करते हैं, इसके अतिरिक्त कुछ मध्यम श्रेणी के लोग काम को उत्साहवश प्रारम्भ तो कर देते हैं, किन्तु विघ्नों के आने पर घबराकर उनका धैर्य जबाव दे देता है और वे कार्य को बीच में ही छोड़ देते हैं।

इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों के विपरीत उत्तम श्रेणी के लोग जब किसी कार्य को हाथ में लेते हैं तो चाहे उनके मार्ग में कितनी ही विघ्नबाधाएँ क्यों न आएँ, वे तनिक भी विचलित नहीं होते और अपने द्वारा प्रारम्भ किए कार्य को समाप्त करके ही छोड़ते हैं।

विशेष– १. वास्तव में प्रथम दो प्रकार के लोगों की अपेक्षा उत्तम श्रेणी के लोग ही प्रशंसनीय होते हैं।

२. सम्पूर्ण जन समूह को उक्त दृष्टि से तीन श्रेणियों में अत्यन्त सुन्दर ढंग से विभाजित किया गया है।

३. वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है–

''उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग:।''

४. अनुप्रास अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. प्र + आ + √रभ् + ल्यप् = प्रारभ्य

२. विघ्नै: विहता: , विघ्नविहता: (तृतीया तत्पुरुष)

३. वि + √हन् + क = विघ्न। वि + √हन् + क्त = विहत:

---

१. प्रारब्धं उत्तमजना: ।(आरम्भ को उत्तम लोग)

४. वि + √रम् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) विरमन्ति

५. प्रति + √हन् + शानच् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) प्रतिहन्यमानाः

६. परि + √त्यज् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) परित्यजन्ति

७. च + उत्तमजनाः (गुण, आद् गुणः)

८. प्र + आ + √रभ् + क्त (नपुं., द्वितीया विभक्ति, एकवचन) प्रारब्धम्

९. विघ्नानां भयेन विघ्नभयेन (षष्ठी तत्पुरुष)

१०. √भी + अच् = भयम्

११. उत्तमाः जनाः उत्तमजनाः (कर्मधारय समास)

१२. प्र + आ + √रभ् + त (आत्मने, प्रथम पुरुष, एकवचन)

१३. मुहुः + अपि = मुहुरपि (विसर्ग)

कान्ताकटाक्षविशिखाः न लुनन्ति[२] यस्य,
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरि विषयाश्च न लोभपाशैः,
लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः॥८७॥

अन्वय- यस्य चित्तम् कान्ता-कटाक्ष-विशिखाः न लुनन्ति, कोपकृशानुतापः न निर्दहति, भूरिविषयाः लोभ-पाशैः च न कर्षन्ति, सः धीरः इदम् कृत्स्नम् लोकत्रयम् जयति।

अनुवाद- जिसके मन को स्त्रियों के कटाक्ष रूपी बाण छेदते नहीं हैं, क्रोध रूपी अग्नि का संताप जलाता नहीं है और अनेक विषय रूपी लोभ के पाश (अपनी ओर) खींचते नहीं हैं। वह धीर (पुरुष) इन सम्पूर्ण तीनों लोकों को जीत लेता है।

व्याख्या- धीर गम्भीर व्यक्ति ही तीनों लोकों को जीतने में समर्थ होते हैं, किन्तु उसके लिए कवि कहता है कि जिनके मन के ऊपर सुन्दर स्त्रियों की दृष्टि प्रभावशाली नहीं होती अर्थात् जो कामदेव द्वारा प्रभावित नहीं होते, जिन्हें कभी क्रोध रूपी अग्नि संतप्त नहीं करता, जो कभी क्रोध के वशीभूत नहीं होते, तथा जिन्हें इन्द्रियों के विषय-भोग प्रभावित नहीं करते अर्थात् जो जितेन्द्रिय होते हैं, वे ही मनस्वी और धैर्यशाली लोग तीनों लोकों को जीतने में समर्थ हैं।

विशेष- १. तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से पूर्णतया मुक्त हो जाए।

२. कटाक्ष रूपी बाण, विषय भोग रूपी पाश, कोप रूपी अग्नि स्थलों पर उपमान और उपमेय में अभेद का आरोप करने से रूपक अलंकार— लक्षण—

---

२. दहन्ति

'तद्रूपकमभेदो य उपमनोपमेययोः'।

३. वसन्ततिलका छन्द प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है–

उक्ता वसन्ततिलका तभजाः जगौ गः।

४. प्रथम चरण में दहन्ति पाठ भी मिलता है, जो अर्थ की दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √दह् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) = दहन्ति

२. √कुप् + घञ् = कोपः। √तप् + घञ् = तापः। √लुभ् + घञ् = लोभः

३. लोकानाम् त्रयम् लोकत्रयम् (षष्ठी तत्पुरुष)

क्वचित् भूमौ शय्या[१], क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः[१],
क्वचिच्छाकाहारी[२] क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो,
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्॥८८॥

अन्वय– कार्यार्थी मनस्वी क्वचित् भूमौ शय्या, क्वचित् अपि च पर्यङ्कशयनः क्वचित् शाकाहारी, क्वचित्, अपि च शाल्योदन रुचिः, क्वचित् कन्थाधारी, क्वचित् अपि च दिव्याम्बरधरः, न दुःखम्, न च सुखम् गणयति।

अनुवाद– कार्य करने का इच्छुक मनस्वी (व्यक्ति) कहीं भूमि पर शय्या वाला और कहीं पलंग पर भी सोने वाला, कहीं शाक खाने वाला और कहीं (उत्तम) शाली भात को भी (खाने की) रुचि वाला, कहीं गूदड़ी धारण करने वाला और कहीं सुन्दर वस्त्रों को भी धारण करने वाला, न (तो) दुःख को और न सुख को (ही) गिनता है।

व्याख्या– जो स्वाभिमानी, मनस्वी लोग कार्य करने को ही महत्त्व प्रदान करते हैं, उन्हें भले ही कहीं भूमि पर ही सोना पड़े अथवा कहीं संयोगवश सोने के लिए आरामदायक पलंग मिल जाए, कहीं पत्ते खाकर ही अपनी उदरपूर्ति करनी पड़े, या फिर भाग्यवश कहीं शाली नामक उत्तम धान निर्मित स्वादिष्ट भात भी मिल जाए, कहीं जीर्णशीर्ण वस्त्रों को सीं कर बनाई गई गूदड़ी से ही अपने शरीर को ढकना पड़े या फिर दिव्य वस्त्रों से प्रतिस्पर्धा करने वाले सुन्दर वस्त्र ही कहीं पहनने को क्यों न मिल जाए।

कार्य की सम्पन्नता के क्रम में उनके लिए इन्न वस्तुओं से प्राप्त होने वाले सुख

---

१. पृथिवी शय्यः (पृथ्वी पर शय्या)

१. शाकहरः (शाक खाने वाला)

२. पर्यङ्कशयनम् (पलंग पर सोना)

अथवा दुःख का महत्त्व नहीं होता, क्योंकि उनका पूरा ध्यान कार्य की पूर्णता पर रहता है। शरीर के सुख अथवा कष्ट उनके लिए कोई महत्त्व नहीं रखते हैं।

विशेष– १. कार्यसिद्धि मनस्वी लोगों का प्रमुख लक्ष्य होता है। उस क्रम में आने वाले सुख, दुःखों की वे परवाह नहीं करते हैं।

२. व्यक्ति का कर्तव्य है कि चिड़िया की आँख पर स्थित अर्जुन के लक्ष्य के समान, अपने लक्ष्य पर ही अपनी ध्यान पूर्णतया एकाग्र करके कार्य करे, तभी उसे सिद्धि प्राप्त होती है।

३. शिखरिणी छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमन सभलागः शिखरिणी।

४. समुच्चय अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √शीङ् + क्यप् + टाप् (प्रथमा विभक्ति, एकवचन) शय्या

२. पर्यङ्कं शयनं यस्य सः (बहुव्रीहि) पर्यंकशयनः

३. पर्यङ्के शयनम् (सप्तमी तत्पुरुष) पर्यंकशयनम्

४. √शीङ् + ल्युट् = शयनम्। आ + √हृ + घञ् = आहारः

५. शाकस्य आहारः = शाकाहरः। शाल्याः ओदनः शाल्योदनः (षष्ठी तत्पुरुष)

६. शाल्योदने रुचिः यस्य सः (बहुव्रीहि) शाल्योदनरुचिः

७. कन्था + √धृ + णिनि (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) कन्थाधारी

८. कन्थम् धारयति इति = कन्थाधारी

९. दिव्यम् अम्बरम् दिव्याम्बरं, तं धरति इति दिव्याम्बरधरः

१०. √धृ + अच् = धरः। कार्य + अर्थ + इनि = कार्यार्थिन्

११. कार्यस्य अर्थी, कार्यार्थी (षष्ठी तत्पुरुष)

१२. मनस् + विनि = मनस्विन् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) मनस्वी

१३. √गण् + णिच् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) गणयति

१४. शाक + आ + √हृ + णिनि = शाकाहारिन् (प्रथम विभक्ति, एकवचन) शाकाहारी

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥८९॥

अन्वय- यदि नीतिनिपुणाः निन्दन्तु वा स्तुवन्तु, लक्ष्मीः समाविशतु वा यथेष्टम् गच्छतु, अद्य एव मरणम् अस्तु, वा युगान्तरे (मरणम् अस्तु) धीराः पदम् न्यायात् पथः न प्रविचलन्ति।

अनुवाद- भले ही नीति में निपुण (लोग) निन्दा करें या स्तुति, लक्ष्मी आ जाए या इच्छानुसार चली जाए, आज ही मरण हो या युगों के बाद (मरें), धैर्यशाली (लोगों) के पैर न्याय के मार्ग से विचलित नहीं होते हैं।

व्याख्या- धैर्यवान् लोग किसी भी परिस्थिति में न्यायोचित मार्ग से हटते नहीं हैं, इसी बात का अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रतिपादन करते हुए कवि कहता है कि–

नीतिज्ञ लोग भले ही उनके कार्यों की आलोचना करें अथवा प्रशंसा करें, वे संयोगवश धनवान् हो जाए अथवा पूर्णतया दरिद्र ही क्यों न हो जाएँ, अल्पायु में ही उनकी मृत्यु भी क्यों न हो जाए अथवा भले ही बहुत वर्षों तक जीवित क्यों न रहें। धैर्य को धारण करने वाले व्यक्ति न्याय के मार्ग का परित्याग किसी भी परिस्थिति में नहीं करते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि धैर्यवान् लोगों की विशेषता है कि न्याय के मार्ग का एक बार अवलम्बन करने के बाद लोगों की निन्दा अथवा प्रशंसा का, धन की हानि अथवा लाभ का, जीवन अथवा मृत्यु का उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, वे बेझिझक निडर होकर अपने द्वारा भली प्रकार विचार कर स्वीकार की गई न्यायोचित कार्य प्रणाली एवं सिद्धान्तों का परित्याग नहीं करते हैं। स्थिर चित्तता ही उनकी विशेषता है।

विशेष- १. धैर्यवान् लोगों की विशेषता का कथन किया गया है।

२. उदात्त अलंकार का प्रयोग हुआ है।

३. वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है– लक्षण–

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

४. यदि पद का प्रयोग यहाँ 'भले ही' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

१. नीतिषु निपुणः = नीतिनिपुणः
२. √निन्द् + झि (लोट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) निन्दन्तु
३. √स्तु + झि (लोट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) स्तुवन्तु
४. सम् + आ + √विश् + झि (लोट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) समाविशतु
५. यथा + √इष् + क्त = यथेष्टम्
६. अन्यत् युगं इति युगान्तरम् तस्मिन् युगान्तरे
७. न्याय + यत् (पुल्लिंग, पञ्चमी विभक्ति, एकवचन) न्याय्यात्
८. प्र + वि + √चल् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) प्रविचलन्ति

९. √मृ + ल्युट् = मरणम्

१०. अद्य + एव (वृद्धिरेचि— अ + ए = ऐ)

११. √अस् + तिप् (लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) अस्तु

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्ते-
र्न शक्यते धैर्यगुणाः प्रमार्ष्टुम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने-
र्नाधःशिखा याति कदाचिदेव।।९०।।

अन्वय– कदर्थितस्य अपि धैर्यवृत्तेः, धैर्यगुणाः प्रमार्ष्टुम् न हि शक्यते। अधः मुखस्य कृतस्य अपि वह्नेः शिखा कदाचित् एव अधः न याति।

अनुवाद– पीड़ित किए जाते हुए भी धैर्यशाली (व्यक्ति) के धैर्य के गुणों को नष्ट नहीं किया जा सकता है। नीचे की ओर मुख की गई भी अग्नि की ज्वाला भी कभी नीचे की ओर नहीं जाती है।

व्याख्या– धैर्य को धारण करने वाले व्यक्तियों को कितना भी कष्ट क्यों न दिया जाए वे अपने प्रशंसनीय धैर्य के गुणों का परित्याग नहीं करते हैं। इसी कथन को कवि अग्नि के उदाहरण द्वारा समझते हुए कहते हैं कि धैर्यशाली लोग अग्नि के समान होते हैं, अग्नि की ज्वालाओं को भी कितना ही नीचे की ओर गति वाला क्यों न किया जाए वे ऊपर की ओर ही उठती हैं। ठीक इसी प्रकार धैर्यवान् अपने धैर्य का परित्याग नहीं करते, भले ही उन्हें कितना ही पीड़ित क्यों न किया जाए।

विशेष– १. धैर्यशाली लोगों का स्वभाव अग्नि के समान तेजस्वी और स्वाभिमानी, कभी न झुकने वाला होता है।

२. अग्नि शिखा की विशेषता होती है कि वह सदैव ऊपर की ओर ही जाती है।

३. दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग हुआ है।

४. उपजाति छन्द का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. कदर्थ + इतच् (पुल्लिंग, षष्ठी विभक्ति, एकवचन) कदर्थितस्य

२. धीर + ण्यत् = धैर्य। √वृत् + क्तिन् = वृत्तिः

३. प्र + √मृज् + तुमुन् = प्रमार्ष्टुम्

४. अधः मुखं यस्य सः, अधोमुखः, तस्य अधोमुखस्य (बहुव्रीहि)

५. √शक् + त (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) शक्यते

वरं शृगोत्संगाद् गुरुशिखरिणः क्वापि विषमे,
पतित्वायं कायः कठिनदृषदन्ते विगलितः।

वरं न्यस्तो हस्तः फणिपतिमुखे तीक्ष्ण दशने.

वरं वह्नौ पातस्तदपि न कृतः शीलविलयः॥९१॥

अन्वय– गुरुशिखरिणः शृङ्गोत्सङ्गात् क्व अपि विषमे कठिनदृषदन्ते पतित्वा अयम् कायः विगलितः वरम्।

तीक्ष्णदशने फणपतिमुखे हस्तः न्यस्तः वरम्। वह्नौ पातः (अपि) वरम्। तदपि शीलविलयः कृतः वरम् न।

अनुवाद– विशाल पर्वत की चोटी के अग्रभाग से कहीं भी विषम और कठोर पत्थरों के बीच में गिरकर यह शरीर नष्ट हो जाए (तो) अच्छा है। तीखे दांतों वाले नागराज के मुख में हाथ रख दें (वह भी) अच्छा है। आग में गिर पड़ना (भी) अच्छा है। तो भी श्रेष्ठ स्वभाव का त्याग करना अच्छा नहीं है।

व्याख्या– विकटतम परिस्थितियों में भी मनुष्य को शील का परित्याग नहीं करना चाहिए, इसका प्रतिपादन करते हुए कवि ने सर्वाधिक ऊँचे पर्वत की चोटी से उबड़-खाबड़ तथा कठोर पत्थरों पर गिरकर शरीर का टुकड़े-टुकड़े हो जाना ठीक माना। इसके अतिरिक्त अत्यन्त विषैले महासर्प के मुख में स्थित तीक्ष्ण दाढ़ों में भले ही हाथ भी क्यों न रखना पड़े। वह भी बुरी बात नहीं है। इतना ही नहीं, यदि किन्हीं परिस्थितियों में अपने शरीर को आग में भी क्यों न जलाना पड़े, तो भी मनुष्य को अपने शील का परित्याग नहीं करना चाहिए।

कहने का तात्पर्य है कि शरीर के कष्टों की परवाह न करते हुए, प्राणों की भी उपेक्षा करते हुए व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपने शील की अत्यन्त सचेष्ट होकर रक्षा करे।

विशेष– १. प्राणों का परित्याग करके भी अपने शील की रक्षा करनी चाहिए।

२. इसी प्रकार के भाव अन्यत्र भी अभिव्यक्त हुए हैं–

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।

अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्तस्तु हतो हतः॥

३. शिखरिणी छन्द का प्रयोग हुआ है लक्षण इस प्रकार है–

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमन सभलागः शिखरिणी।

४. नीतिशतकम् की सभी प्रतियों में यह श्लोक उपलब्ध नहीं होता।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. वि + √गल् + क्त = विगलितः

२. तीक्ष्णानि दशनानि यस्य सः, तीक्ष्णदशनः तस्मिन्, तीक्ष्णदशने

३. नि + √अस् + क्त = न्यस्तः

४. √पत् + घञ् = पातः

५. √पत् + क्त्वा = पतित्वा

६. फणिनां पतिः, फणिपतिः, तस्य मुखे, फणिपतिमुखे

७. शीलस्य विलयः (षष्ठी तत्पुरुष) शीलविलयः

८. √कृ + क्त = कृतः

९. शृंगस्य उत्संगः, शृंगोत्संगः तस्मात् = शृंगोत्संगात्

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणान्
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्य कुरङ्गायते।
व्यालः माल्यगुणायते विषरसः पीयूष वर्षायते,
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति।।९२।।

अन्वय– यस्य अङ्गे अखिललोकवल्लभतमम् शीलम् समुन्मीलति, तस्य वह्नि जलायते, जलनिधिः तत्क्षणात् कुल्यायते, मेरुः स्वल्पशिलायते, मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते, व्यालः माल्यगुणायते, विषरसः पीयूष वर्षायते।

अनुवाद– जिसके अङ्ग में सम्पूर्ण संसार का सर्वाधिक प्रिय चरित्र प्रकट होता है, उसके (लिए) अग्नि जल बन जाती है, समुद्र उसी क्षण छोटी सी नदी बन जाता है, मेरु (पर्वत) छोटी सी शिला बन जाता है, शेर तुरन्त (ही) हिरण बन जाता है, सर्प पुष्पमाला बन जाता है (और) विष का रस (भी) अमृत वर्षा करने वाला हो जाता है।

व्याख्या– जिस व्यक्ति के शरीर में, इस संसार में सभी लोगों को अच्छा लगने वाला सत् स्वभाव, सदाचार विद्यमान है, उसके लिए अग्नि के समान विनाशकारी एवं पीड़ा पहुँचाने वाले लोग भी जल के समान शीतल स्वभाव वाले हो जाते हैं। समुद्र के समान गम्भीर समस्याएँ भी छिछली नदी के समान सुगम हो जाती हैं, मेरुपर्वत के समान विशालाकार वाली कठिनाइयाँ भी शिला के समान छोटे आकार को धारण कर लेती हैं। शेर जैसा भयावह शक्तिशाली शत्रु भी हिरण के समान सीधा और विनम्र हो जाता है; सर्प के समान अहित करने वाले भयंकर दुष्ट पुष्पमाला के समान उनकी शोभा बनकर अनुकूल आचरण करने वाले हो जाते हैं। गरल जैसे भयानक विष का रस भी अमृत की बूँदों की वर्षा करने वाला हो जाता है।

विशेष– १. सच्चरित्र की अत्यधिक प्रशंसा की गई है। अतः व्यक्ति को अपने जीवन में शील का सदैव संरक्षण करना चाहिए।

२. अन्यत्र भी कहा गया है– "वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्" शील की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए।

३. 'जलायते' आदि क्रिया पदों में क्यङ् प्रत्यय का प्रयोग 'इव आचरति' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

४. यहाँ सर्वत्र अन्योक्तिपरक अर्थ करना उचित है जैसे– सर्प यहाँ जहर उगलने वाले दुष्ट लोगों का प्रतीक है, इसी प्रकार शेर शक्ति के कारण अहंकारी लोगों का।

५. शीलवान् व्यक्ति के लिए इस संसार में कुछ भी दुःसाध्य नहीं है।

६. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है लक्षण इस प्रकार है—

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

७. काव्यलिंग अलंकार का प्रयोग दर्शनीय है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. अखिलाः लोकाः, अखिललोकाः (कर्मधारय) तेषां बल्लभतमम् अखिल-लोकबल्लभतमम् (षष्ठी तत्पुरुष) बल्लभ + तमप्

२. कुल्या + क्यङ् + त (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) कुल्यायते

३. जल + क्यङ् + त (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) जलायते

४. कुरङ्ग + क्यङ् + त (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) कुरङ्गायते

५. माल्यगुण + क्यङ् + त (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) माल्यगुणायते

६. स्वल्पशिला + क्यङ् + त (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) स्वल्पशिलायते

७. पीयूषवर्षा + क्यङ् + त (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) पीयूषवर्षायते

८. पीयूषस्य वर्षा (षष्ठी तत्पुरुष) पीयूषवर्षा

९. विषस्य रसः (षष्ठी तत्पुरुष) विषरसः

१०. जलानां निधिः (षष्ठी तत्पुरुष) जलनिधिः

११. कुल्यायते–कुल्या इव आचरति, जलमिव आचरति, जलायते, कुरङ्ग इव आचरति = कुरङ्गायते, माल्यगुणमिव आचरति, माल्यगुणायते, पीयूष वर्षा इव आचरति, पीयूष वर्षायते

१२. सम् + उत् + √मील् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) समुन्मीलति

१३. मृगाणां पतिः, मृगपतिः (षष्ठी तत्पुरुष)

१४. यस्य + अङ्के (अकः सवर्णे दीर्घः) (अ + अ = आ)

छिन्नोऽपि रोहति तरुः, क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः।
इति विमृशन्तः सन्तः, सन्तप्यन्ते न ते विपदा[१]॥९३॥

अन्वय– तरुः छिन्नः अपि रोहति, चन्द्रः क्षीणः अपि पुनः उपचीयते, इति विमृशन्तः ते सन्तः विपदा न सन्तप्यन्ते।

---

१. विश्लथेषु लोकेषु (संसार में स्फूर्तिहीन होने पर)

अनुवाद– वृक्ष, कटा हुआ भी बढ़ जाता है, चन्द्रमा, क्षीण हुआ भी वृद्धि को प्राप्त हो जाता है, ऐसा सोचते हुए वे सज्जन विपत्ति से संतप्त नहीं होते हैं।

व्याख्या– मनुष्य को कभी भी विपत्तियों के आने पर दुःखी नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्रकृति का शाश्वत् नियम है कि कभी भी एक जैसी स्थिति नहीं रहती। आप ही देखिए पेड़ को काटने का बाद भी वह फिर से उग आता है। ठीक इसी प्रकार चाँद भी एक बार धीरे–धीरे क्षीण होता है, किन्तु फिर से बढ़ जाता है, हमेशा एक सा नहीं रहता है। अतः सम्पत्ति और विपत्ति प्रकृति का नियम है।

विशेष– १. सुख और दुःख संसार का नियम है, अतः दुःख से व्यक्ति को घबराना नहीं चाहिए।

२. व्यक्ति को धैर्य का आचरण करना चाहिए।

३. अन्यत्र भी कहा गया है— 'चक्रवत् परिवर्तन्ते सुखानि च दुःखानि च'

४. आर्या छन्द का प्रयोग हुआ है— लक्षण इस प्रकार है—

यस्याः पादे प्रथमे, द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये, चतुर्थके पञ्चदश सार्या॥

५. काव्यलिंग अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √सम् + √तप् + झ (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष बहुवचन) सन्तप्यन्ते
२. √छिद् + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) छिन्नः
३. √रुह् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन) रोहति
४. √क्षै + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) क्षीणः
५. उप + √ची + त (लट् लकार, आत्मने पद, प्रथम पुरुष, एकवचन) उपचीयते
६. वि + √मृश् + शतृ (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) विमृशन्तः
७. वि + √पद् + क्विप् (स्त्रीलिंग, तृतीया विभक्ति, एकवचन) विपदा

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक् संयमो,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्॥९४॥

अन्वय– सुजनता ऐश्वर्यस्य, वाक्–संयमः शौर्यस्य, उपशमः ज्ञानस्य, विनयः श्रुतस्य, पात्रे व्ययः वित्तस्य, अक्रोधः तपसः, क्षमा प्रभवितुः, निर्व्याजता धर्मस्य भूषणम् (अस्ति)। (किन्तु) सर्वकारणम् अपि इदम् शीलम् सर्वेषाम् परम् भूषणम् (अस्ति)।

अनुवाद– सज्जनता ऐश्वर्य का, वाणी पर नियन्त्रण वीरता का, शान्ति ज्ञान का, विनम्रता शास्त्र (ज्ञान) का, सत्पात्र में खर्च धन का, क्रोध न करना तप का, क्षमा प्रभावशाली का, निश्छलता धर्म का आभूषण (हैं), (किन्तु) सभी का कारण यह सत्स्वभाव (शील) सर्वश्रेष्ठ आभूषण (है)।

व्याख्या– व्यक्ति के अन्यान्य गुणों की चर्चा करते हुए कवि श्रेष्ठ स्वभाव की सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित करते हुए कहता है कि, यदि व्यक्ति ऐश्वर्य सम्पन्न है और साथ ही सज्जन भी है तो यह गुण आभूषण के समान है।

इसी प्रकार यदि व्यक्ति शूरवीर है साथ ही अपनी वाणी पर नियन्त्रण रखने वाला भी है तो यह गुण उसके लिए आभूषण के समान है। व्यक्ति ज्ञानवान् भी है साथ ही शान्त प्रकृति भी है तो यह उसके लिए अलंकरण ही है।

ठीक इसी प्रकार व्यक्ति अपने धन का खर्च सत्पात्र पर करता है, व्यर्थ ही लुटाता नहीं है तो यह बात उसकी शोभा को बढ़ाने वाली है। तपस्वी होते हुए भी व्यक्ति यदि क्रोधी नहीं है तो यह उसके लिए आभूषण ही है।

प्रभावशाली होते हुए भी यदि व्यक्ति क्षमा धारण करता है तो यह उसकी शोभा में वृद्धि करने वाला है। धार्मिक प्रवृत्ति वाला होते हुए भी व्यक्ति का निष्कपट होना, उसके लिए आभूषण है।

किन्तु इन सभी बातों से अलग और सभी का कारण रूप एवं सर्वोत्कृष्ट गुण, शील अर्थात् श्रेष्ठ स्वभाव व्यक्ति का सबसे बड़ा आभूषण है। कहने का तात्पर्य है कि यदि व्यक्ति का श्रेष्ठ स्वभाव है तो समझना चाहिए कि उसके पास सबसे बड़ा आभूषण है।

विशेष– १. शील की सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित की है।

२. व्यक्ति को अच्छे गुणों के लिए किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, इसका अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

३. स्वर्णादि से निर्मित आभूषणों की निस्सारता का प्रतिपादन किया गया है।

४. मनुष्य के सर्वश्रेष्ठ आभूषण तो उसके गुण हैं।

५. अन्यत्र कवि ने एकमात्र मधुर वाणी को ही सर्वश्रेष्ठ आभूषण प्रतिपादित किया है— ''वाग्भूषणं भूषणम्''।

६. शार्दूलविक्रीडित छन्द— **सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।**

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. सुजन + तल् + टाप् (प्रथमा विभक्ति, एकवचन) सुजनता

२. ईश्वरस्य भावः ऐश्वर्यः, तस्य ऐश्वर्यस्य

३. ईश + वरच् = ईश्वर + ष्यञ् = ऐश्वर्यः, तस्य ईश्वरस्य

४. वि + √भूष् + ल्युट् = विभूषणम्

५. वाचाम् संयमः, वाक् संयमः (षष्ठी तत्पुरुष) सम् + √यम् + अप् = संयमः

६. शूरस्यभावः, शौर्यः, तस्य, शूर + ष्यञ् (नपुं., षष्ठी विभक्ति, एकवचन)

७. उप + √शम् + घञ् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) उपशमः

८. वि + √नी + अच् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) विनयः

९. √श्रु + क्त = श्रुतः, तस्य श्रुतस्य

१०. प्र + √भू + तृच् = प्रभवितृ - तस्य, प्रभवितुः (पुल्लिंग, षष्ठी विभक्ति, एकवचन)

११. निर् + व्याज + तल् + टाप् = निर्व्याजता

१२. सर्वेषाम् कारणम्, सर्वकारणम् (षष्ठी तत्पुरुष)

१३. ज्ञानस्य + उपशमः (गुण् - आद् गुणः) (अ + उ = ओ)

१४. विनयः + वित्तस्य (विसर्ग - हशि च) (:— उ— ओ)

रे रे चातक! सावधानमनसा मित्र! क्षणं श्रूयतां,
अम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा,
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः।।९५।।

अन्वय– रे रे मित्र चातक! सावधान मनसा क्षणम् श्रूयताम्। गगने बहवः अम्भोदाः सन्ति, हि सर्वे अपि एतादृशाः न। केचित् वृष्टिभिः वसुधाम् आर्द्रयन्ति, केचित् वृथा गर्जन्ति (इत्यर्थम् त्वम्) यम् यम् पश्यसि, तस्य तस्य पुरतः दीनम् वचः मा ब्रूहि।

अनुवाद– हे मित्र चातक! सावधान मन से क्षण भर के लिए सुनो। आकाश में बहुत से बादल हैं, किन्तु सभी एक जैसे नहीं (हैं)। कुछ वर्षा के द्वारा पृथिवी को गीला करते हैं, (परन्तु) कुछ व्यर्थ (ही) गरजते हैं। (इसलिए तुम) जिस-जिसको देखते हो, उस-उस के सामने दीन वचन मत कहो।

व्याख्या– चातक को सम्बोधित करके कवि कहता है कि हे चातक, तुम मेरी बात जरा ध्यान लगाकर क्षणभर के लिए सुनो, आकाश में तुम्हें अनेक बादल दिखाई दे रहे हैं, किन्तु वे सभी एक जैसे नहीं हैं। उनमें कुछ तो जल-वर्षा करके पृथिवी की प्यास बुझाते हैं, किन्तु कुछ तो व्यर्थ ही गर्जन करते हैं अर्थात् बरसते नहीं हैं।

इसलिए तुम जिसे भी देखते हो अपनी दीनवाणी को उस-उसके सामने मत कहो। प्रत्येक के सामने अपनी दीनता प्रकट करना उचित नहीं है।

यहाँ चातक, याचक का प्रतीक है तथा बादल धनवानों का। सभी धनवान् दानदाता नहीं होते, उदार हृदय नहीं होते। अतः याचकों को प्रत्येक के सामने स्वयं की दीनता प्रकट नहीं करनी चाहिए। जो धनवान् वस्तुतः दान देने वाले, दयालु हृदय हैं, उन्हीं के सामने याचना करना उचित है।

विशेष– १. चातक के विषय में प्रसिद्ध है कि वह केवल वर्षा के जल को ही पीता है।

२. प्रत्येक धनवान् के सामने दीनतापूर्ण व्यवहार याचक के लिए उचित नहीं है।

३. प्रसिद्धि है, 'जो गरजते हैं, बरसते नहीं हैं'।

४. प्रस्तुत श्लोक में अन्योक्ति के माध्यम से धनवानों की मानसिकता का प्रतिपादन किया गया है।

५. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग है लक्षण इस प्रकार है—

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

६. काव्यलिंग अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. अवधानेन सहितम् सावधानम्, सावधानम् मनः सावधानमनः, तेन - सावधानमनसा

२. अम्भस् + √दा + क, अम्भांसि ददति इति अम्भोदाः

३. वसु + √धा + क + टाप्, वसुधा, ताम् वसुधाम्

४. √आर्द्र + णिच् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) आर्द्रयन्ति

५. पुर + तस् = पुरतः

६. न + एतादृशाः (वृद्धि, वृद्धिरेचि) नैतादृशाः

७. पुरतः + मा (विसर्ग, हशि च) पुरतो मा

८. केचित् + वृष्टिभिः + आर्द्रयन्ति (झलां जशोऽन्ते, ससजुषो रुः)

९. केचित् + वृथा (व्यञ्जन - झलां जशोऽन्ते)

१०. √दृश् + सिप् (लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन) पश्यसि

११. √अस् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) सन्ति

दैव-पद्धतिः

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः,
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः।
इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि बलभिद् भग्नः परैः सङ्गरे,
तद् व्यक्तं वरमेव दैवशरणं धिग् धिग् वृथा पौरुषम्।।९६।।

अन्वय– बृहस्पति यस्य नेता, वज्रम् प्रहरणम्, सुराः सैनिकाः, स्वर्गः दुर्गम्, हरेः अनुग्रहः, ऐरावतः वारणः इति, ऐश्वर्यबलान्वितः अपि बलभित् संगरे परैः भग्नः। तत् व्यक्तम्, दैवशरणम् एव वरम्, धिक् धिक् वृथा पौरुषम्।

अनुवाद– बृहस्पति जिसका नेता (था), वज्र शस्त्र (था), देवता सैनिक (थे), स्वर्ग दुर्ग (था), विष्णु की कृपा भी (थी), ऐरावत (हाथी) वाहन था, इस प्रकार ऐश्वर्य और बल से युक्त (होता हुआ) भी इन्द्र युद्ध में शत्रुओं द्वारा हरा दिया गया। तो स्पष्ट है कि भाग्य की शरण ही उचित है, व्यर्थ के पुरुषार्थ को धिक्कार है।

व्याख्या– इस संसार में भाग्य ही प्रबल है, पुरुषार्थ, परिश्रम आदि सब व्यर्थ हैं, इसकी पुष्टि के लिए इन्द्र का उदाहरण देते हुए कवि कहता है कि बृहस्पति जैसा नीतिनिपुण एवं विद्वान् देवता जिसका मार्गदर्शक रहा, वज्र के समान अत्यन्त प्रभावशाली हथियार जिसका शस्त्र था, अत्यन्त सामर्थ्यवान् देवता जिसके सैनिक के रूप में थे, स्वर्ग जैसा सुरक्षित एवं दुर्गम स्थान जिसका दुर्ग था, सम्पूर्ण संसार का पालन करने वाले परमपिता परमेश्वर की जिस पर कृपा थी, ऐरावत जैसा शक्तिशाली हाथी जिसका वाहन था, ऐसे बल नामक राक्षस का विनाश करने वाले इन्द्र को, इतने सहयोग और सामर्थ्य के उपरान्त भी उसके शत्रु राक्षसों ने युद्ध भूमि में हरा दिया।

तो इस सब घटनाक्रम को देखकर निश्चयपूर्वक यही कहा जा सकता है कि पुरुषार्थ पूर्णतया व्यर्थ एवं निरर्थक है, उसे बार-बार धिक्कार है। वस्तुतः एकमात्र भाग्य ही प्रबल होता है। अत: व्यक्ति को पुरुषार्थ करके अपने मन, मस्तिष्क एवं शरीर को व्यर्थ ही कष्ट नहीं देना चाहिए।

विशेष– १. भाग्य की प्रमुखता सोदाहरण अत्यन्त सुन्दर शैली में सप्रमाण प्रस्तुत की है।

२. बलभित् का प्रयोग स्वयं इन्द्र को भी शक्तिशाली बताने के लिए किया गया है।

३. युद्ध विजय के लिए जितने भी साधनों की आवश्यकता होती है, वे सब इन्द्र के पास होते हुए भी उसकी पराजय में एकमात्र भाग्य की प्रबलता ही कारण थी।

४. जब देवताओं के राजा की भी भाग्य के समक्ष एक भी नहीं चली, तब मनुष्य की तो बात ही क्या है।

५. प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त सभी विशेषण अभिप्राययुक्त प्रयुक्त हुए हैं' अत: परिकर अलंकार का प्रयोग हुआ है–

विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः

६. शार्दूलविक्रीडित छन्द प्रयुक्त हुआ है, लक्षण इस प्रकार है–

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

७. 'धिक्' के योग में 'पौरुषम्' में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √नी + तृच् = नेतृ (प्रथमा विभक्ति, एकवचन) नेता

२. बृहतां पतिः, बृहस्पतिः (षष्ठी तत्पुरुष)

३. प्र + √हृ + ल्युट् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) **प्रहरणम्**

४. √वृ + णिच् + ल्युट् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) **वारण:**

५. ऐश्वर्यञ्च बलञ्च तेन अन्वित: ऐश्वर्यबलान्वित: (द्वन्द्व समास)

६. बलं भिन्ति इति बलभिद्

७. बल + √भिद् + क्विप् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) **बलभित्**

८. √भञ्ज् + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) भग्न:

९. इरा + मतुप् + अण् = ऐरावत

१०. दैवम् एव शरणम् देवस्यशरणम् वा (षष्ठी तत्पुरुष)

११. √श्रृ + ल्युट् = शरणम्

१२. अनु + √ग्रह् + अप् = अनुग्रह:

१३. इति + ऐश्वर्यबलान्वित: + अपि (इकोयणचि, अतोरोरप्लुतादप्लुते, एङः पदान्तादति)

१४. तत् + व्यक्तम् (झलांजशोऽन्ते) (त्— द्)

भग्नाशस्य करण्डपीडित[1] तनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा,
कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिन:।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यात: पथा,
लोका: पश्यत[2] दैवमेव हि नृणां[3] वृद्धौ क्षये कारणम्।।९७।।

अन्वय– करण्डपीडिततनो:, क्षुधा म्लानेन्द्रियस्य, भग्नाशस्य भोगिन: मुखे नक्तम् आखु: विवरम् कृत्वा स्वयम् निपतित:। तत् पिशितेन तृप्त: असौ (सर्प:) सत्वरम् तेन एव पथा यात:। लोका: पश्यत, नृणाम् वृद्धौ, क्षये हि देवम् एव कारणम् (अस्ति)।

अनुवाद– पिटारी में दबे हुए शरीर वाले, भूख से शिथिल इन्द्रियों वाले, नष्ट हुई (जीवन की) आशा वाले साँप के मुँह में, रात्रि में (एक) चूहा छेद करके स्वयं गिर पड़ा। उस मांस से संतुष्ट हुआ वह (साँप) शीघ्र ही उसी मार्ग से (बाहर) चला गया, लोगों देखो, मनुष्यों की समृद्धि और हानि में भाग्य ही (एकमात्र) कारण (है)।

व्याख्या– इस संसार में किसी भी प्राणी की लाभ-हानि, जीवन-मरण, सुख-दुःख सभी भाग्य से नियन्त्रित हैं, इसी बात को एक सर्प के उदाहरण द्वारा प्रतिपादित करते हुए कवि कहता है कि–

एक साँप को सपेरे ने पिटारी में बन्द कर दिया वहाँ भूख और प्यास के कारण

---

१. पिण्डित (कुण्डली बनाकर)

२. स्वस्थस्तिष्ठति

३. परंवृद्धौ

उसका अंग-अंग ढीला हो गया था अर्थात् उसमें तनिक भी शक्ति नहीं रही थी, अपने जीवन से भी वह पूरी तरह निराश हो चुका था अर्थात् उसे अपने जीवन की तनिक भी आशा नहीं रही थी।

किन्तु भाग्य की प्रबलता देखिए रात्रि में कोई चूहा उसकी पिटारी में छेद बनाकर स्वयं ही उसके ऊपर गिर पड़ा। तुरन्त सर्प ने उस चूहे को धर दबोचा और खा गया। उसके मांस को खाने से उसकी भूख शान्त हुई और उसके शरीर में बल का सञ्चार हुआ, जिससे वह उसी छेद से, जिससे चूहा अंदर आया था, निकलकर बाहर चला गया अर्थात् उसके प्राण जाते-जाते बच गए तथा वह स्वतन्त्र भी हो गया।

इस समस्त घटना का वर्णन करने का बाद कवि जनसामान्य को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे मनुष्यो! इस सबको देखकर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस संसार के सभी प्राणियों के जीवन-मरण, हानि-लाभ अदि सभी क्रियाओं के पीछे भाग्य की प्रबलता को ही स्वीकार करना पड़ता है।

विशेष- १. भाग्यवान् यहाँ असम्भव सम्भव सब कुछ प्राप्त करता है। भाग्यहीन को कुछ प्राप्त नहीं होता।

२. भाग्य का निर्माण पूर्वजन्म के कर्मों से होता है।

३. भाग्य की प्रबलता अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रतिपादित की गई है। मनुष्य की उन्नति और अवनति का कारण एकमात्र भाग्य ही है।

४. अप्रत्यक्ष रूप से पुरुषार्थ की निरर्थकता प्रतिपादित की गई है।

५. शार्दूलविक्रीडित छन्द, लक्षण—

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

६. दृष्टान्त अलंकार, लक्षण—

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

१. भग्ना आशा यस्य तस्य (बहुव्रीहि) भग्नाशस्य

२. √भञ्ज् + क्त = भग्नः

३. करण्डेन पीडितः करण्डपीडितः, करण्डे पीडिता तनुः यस्य, तस्य

४. म्लानानि इन्द्रियाणि यस्य सः, तस्य (बहुव्रीहि) म्लानेन्द्रियस्य

५. √म्लै + क्त = म्लान। √भुज् +घञ् = भोग + इनि = भोगिन्

६. भोगः अस्ति अस्य इति, तस्य - भोगिनः (षष्ठी विभक्ति, एकवचन, पुल्लिंग)

७. नि + √पत् + क्त = निपतितः

८. √दृश् + थ (लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन) पश्यत

९. √वृध् + क्तिन् = वृद्धिः (सप्तमी विभक्ति, एकवचन) वृद्धौ

१०. √क्षि + अच् (पुल्लिंग, सप्तमी विभक्ति, एकवचन) क्षये

११. कृत्वा + आखुः (अकः सवर्णे दीर्घः - आ + आ = आ)

१२. तेन + एव (वृद्धिरेचि— अ + ए = ऐ)

यथा कन्दुक पातेनोत्पतत्यार्यः पतन्नपि।
तथा त्वनार्यः पतति मृत्पिण्डपतनं यथा।।९८।।

अन्वय– यथा कन्दुक पातेन उत्पतति तथा आर्यः पतन् अपि (उत्पतति) तु यथा मृत्पिण्डपतनं (तथा) अनार्यः पतति।

अनुवाद– जिस प्रकार गेंद गिराने से ऊपर उठती है वैसे ही सज्जन (व्यक्ति) गिरते हुए भी ऊपर उठता है, किन्तु मिट्टी के ढेले पर गिरने के समान दुष्ट का पतन होता है।

व्याख्या– सज्जन व्यक्ति का पतन गेंद के गिराने के समान होता है, जिस प्रकार गेंद गिरकर भी पुनः उठती है वैसे ही सज्जन व्यक्ति की अवनति के बाद उन्नति सुनिश्चित है। इसके विपरीत दुर्जन व्यक्ति का पतन मिट्टी के ढेले के समान शाश्वत होता है। वह एक बार पतित होने के बाद पुनः उन्नति को प्राप्त नहीं होता।

विशेष– १. सज्जन व्यक्ति के पतन की तुलना गेंद के पतन से तथा दुष्ट व्यक्ति के पतन की मिट्टी के लोंधे के गिरने से की गई है।

२. दुष्ट व्यक्ति का पतन शाश्वत होता है, जबकि सज्जन व्यक्ति अवनति को प्राप्त करके भी उठता अवश्य है।

३. अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है—

श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विः चतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः।।

४. दृष्टान्त अलंकार, लक्षण—

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।

५. नीतिशतकम् की सभी पाण्डुलिपियों में यह श्लोक नहीं है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. उत् + √पत् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) उत्पतति

२. √पत् + शतृ = पतन्

३. न आर्यः इति (नञ् समास) = अनार्यः

४. मृतस्य पिण्डं मृतपिण्डं (षष्ठी तत्पुरुष) तस्य पतनं = मृत्पिण्डपतनं

५. कन्दुकमिव पातः, कन्दुकपातः (कर्मधारय) तेन कन्दुकपातेन

६. पातेन + उत्पतति + आर्यः (आद् गुणः, इकोयणचि)

७. पतन् + अपि = पतन्नपि (ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्)

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापितो[१] मस्तके,
वाञ्छन्[२] देशमनातपं विधिवशात्ता[३]लस्य मूलं गतः।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः,
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहित[४]स्तत्रैव यान्त्यापदः॥९९॥

अन्वय– दिवसेश्वरस्य किरणैः मस्तके सन्तापितः खल्वाटः अनातपम् देशम् वाञ्छन् विधिवशात् तालस्य मूलम् गतः। तत्र अपि पतता महाफलेन अस्य शिरः सशब्दम् भग्नम् (जातम्) भाग्यरहितः यत्र गच्छति, तत्रैव प्रायः आपदः यान्ति।

अनुवाद– सूर्य की किरणों से मस्तक पर अत्यन्त तपा हुआ गंजा धूपरहित प्रदेश को चाहता हुआ, भाग्यवश ताड़ (वृक्ष) के नीचे गया। वहाँ भी गिरते हुए बहुत बड़े (ताड़ के) फल से इसका सिर आवाज के साथ विदीर्ण (हो गया)। भाग्यहीन जहाँ जाता है, वहीं प्रायः आपत्तियाँ जाती हैं।

व्याख्या– दुर्भाग्य, व्यक्ति का पीछा कहीं भी नहीं छोड़ता है इसी का प्रतिपादन कवि ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से उदाहरण देते हुए किया है। कोई गंजा व्यक्ति सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से अत्यन्त पीड़ित होकर छाया की तलाश में जब एक ताड़ के पेड़ के नीचे पहुँचा ही था कि पेड़ से एक बड़ा सा ताड़ का फल उसके गंजे सिर पर धड़ाम से गिरा और उसका सिर एक दर्दनाक आवाज के साथ फट गया तथा वह व्यक्ति वहीं ढेर हो गया।

इस प्रकार भाग्यहीन व्यक्ति जहाँ भी जाता है, आपत्तियाँ उसके पीछे वहाँ-वहाँ जाती हैं अर्थात् कहीं भी उसका पीछा नहीं छोड़ती हैं।

विशेष– १. भाग्य की प्रबलता का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है।

२. अच्छा या बुरा जैसा भी व्यक्ति का भाग्य होता है, वह कहीं भी क्यों न चला जाए, उसे भोगना ही पड़ेगा।

३. भाग्य पर विश्वास न करने वाले इसे मात्र संयोग की ही संज्ञा देते हैं।

४. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण–

सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

५. अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. दिवसस्य ईश्वरः दिवसेश्वरः (षष्ठी तत्पुरुष) तस्य दिवसेश्वरस्य

---

१. संतापिते
२. गच्छन्
३. द्रुतगतिः
४. दैवहतकस्तत्रैव

२. सम् + √तप् + णिच् + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) सन्तापित:
३. न अस्ति आतपं यस्मिन्, तम्, अनातपम्
४. √वाञ्छ् + शतृ = वाञ्छन् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)
५. √पत् + शतृ (नपुं. तृतीया विभक्ति, एकवचन) पतता
६. शब्देन सहितम्, सशब्दम् (अव्ययीभाव)
७. आ + √पद् + क्विप् (प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) आपद:
८. √इण् (गतौ) + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) यान्ति
९. √भञ्ज् + क्त = भग्नम्
१०. भाग्येन रहित:, भाग्यरहित: (तृतीया तत्पुरुष)
११. खल्वाट: + दिवस + ईश्वरस्य (हशि च, आद् गुण:)
१२. तत्र + अपि + अस्य (अक: सवर्णे दीर्घ:, इकोयणचि)
१३. तत्र + एव (वृद्धिरेचि— अ + ए = ऐ)
१४. यान्ति + आपद: (इकोयणचि)

सृजति तावदशेषगुणाकरं,
पुरुषरत्नमलङ्करणं भुव:।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेद्,
अहह! कष्टमपण्डितता विधे:॥१००॥

अन्वय– चेत् अशेषगुणाकरम् भुव: अलङ्करणम् पुरुषरत्नम् (विधि:) सृजति तावत्, तदपि तत्क्षणभङ्गिकरोति, अहह, विधे: अपण्डितता कष्टम् (अस्ति)

अनुवाद— यद्यपि सभी गुणों की खान, पृथ्वी के आभूषण (स्वरूप) पुरुष रूपी रत्न को (विधाता) रचता तो है, (किन्तु) उसे भी तो क्षणभंगुर कर देता है, अहो, विधाता की मूर्खता (अत्यन्त) कष्टकर (है)।

व्याख्या– कवि को इस बात का अत्यन्त कष्ट है कि ब्रह्मा अनेक गुणों का निधान, पृथ्वी के आभूषण रूप पुरुष का पहले तो प्रयत्नपूर्वक निर्माण करता है, किन्तु निर्माण करने के बाद स्वयं ही उसे विनाशवान् भी बना देता है।

सामान्यत: होता यह है कि कोई भी व्यक्ति अपनी निर्मिति को तोड़ता नहीं है, क्योंकि उसका परिश्रम, उसकी भावना उस निर्मिति में निहित रहती है, किन्तु कवि की दृष्टि में यह ब्रह्मा की मूर्खता ही कही जायेगी कि वह स्वयं ही मानव रूप कृति का निर्माण अत्यन्त परिश्रम के साथ करता है और यह मानव भी कोई साधारण वस्तु नहीं है, अपितु इस सम्पूर्ण पृथ्वी का आभूषण स्वरूप, अनेक गुणों की खान, मानो रत्न स्वरूप ही है। फिर इतने उत्तम निर्माण को स्वयं ही वह विनाशवान् बना देता है; अत:

उसकी इस प्रकार की प्रवृत्ति की किस प्रकार प्रशंसा की जा सकती है, इसे तो उसकी मूर्खता ही कहेंगे।

विशेष– १. "अहह" पद का प्रयोग यहाँ अत्यन्त दुःख की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

२. विधाता के अविवेकपूर्ण कार्य की आलोचना अत्यन्त कटु शब्दों में की गयी है।

३. 'पुरुषरत्नम्' में रूपक अलंकार का प्रयोग हुआ है, पुरुष रूपी उपमेय में रत्न रूपी उपमान के अभेद का आरोप किया गया है। लक्षण—

तद् रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

४. द्रुतविलम्बित छन्द प्रयुक्त हुआ है, लक्षण—

"द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।"

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. न शेषः इति अशेषः (नञ् समास)

१. √सृज् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) सृजति

२. अशेषगुणानाम् आकरःतम् (षष्ठी तत्पुरुष) अशेषगुणानामाकरम्

३. पुरुषः रत्नम् इव (कर्मधारय) पुरुषरत्नम्

४. क्षणे भङ्गि (सप्तमी तत्पुरुष) क्षणभङ्गि

५. न पण्डितता इति (नञ् समास) अपण्डितता

६. पण्डा + इतच् = पण्डित + तल् + टाप् = पण्डितता

७. अलम् + √कृ + ल्युट् = अलंकरणम्

८. पुरुषेषु रत्नम् इति (सप्तमी तत्पुरुष) पुरुषरत्नम्

९. तत् + अपि (झलां जशोऽन्ते) तदपि। चेत् + अहह (झलां जशोऽन्ते) चेदहह

येनैवाम्बरखण्डेन संवीतो निशि चन्द्रमाः।
तेनैव च दिवा भानुरहो दौर्गत्यमेतयोः॥१०१॥

अन्वय– येन अम्बरखण्डेन एव चन्द्रमाः निशि संवीतः, तेन एव च (अम्बरखण्डेन) भानुः दिवा (संवीतः), अहो! एतयोः दौर्गत्यम्।

अनुवाद– जिस वस्त्र के टुकड़े के द्वारा ही चन्द्रमा रात्रि में ढ़क दिया जाता है और उतने (वस्त्र के टुकड़े) से ही सूर्य दिन में (आवृत कर दिया जाता है) इन दोनों की दुर्गति आश्चर्यजनक है।

व्याख्या– सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करने वाले तेजस्वी देवता सूर्य और चन्द्रमा भी क्रमशः दिन और रात में मात्र एक वस्त्र के टुकड़े के द्वारा ढक दिये जाते हैं। यह इन दोनों तेजस्वी एवं विशाल आकार वाले देवताओं की दुर्गति ही है, क्योंकि विशाल

सामर्थ्य सम्पन्न होते हुए भी छोटे से वस्त्र के टुकड़े से ढका जाना अत्यन्त संकुचित दशा को प्राप्त होना है, जो स्वयं में आश्चर्यजनक एवं हीनता का द्योतक है।

विशेष– १. यहाँ अम्बर का अर्थ आकाश भी किया जा सकता है। तब अर्थ होगा 'छोटे से आकाश के टुकड़े से'।

२. वस्तुतः यहाँ अम्बोदखण्ड पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा दोनों ही को बादल का छोटा सा टुकड़ा आच्छादित कर लेता है, यह दोनों तेजस्वी ग्रहों के लिए तिरस्कार का विषय है।

३. विधाता की सामर्थ्य सर्वोपरि है जिससे सामर्थ्यवान् व्यक्ति भी बचने में समर्थ नहीं है।

४. अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण पूर्ववत् है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. सम् + वि + √इण् (गतौ) + क्त = संवीतः

२. अम्बरस्य खण्डेन, अम्बरखण्डेन (षष्ठी तत्पुरुष)

३. दुर् + गम् + क्त = दुर्गत + ष्यञ् = दौर्गत्यम्

४. येन + एव + अम्बरखण्डेन (वृद्धिरेचि, अकः सवर्णे दीर्घः)

६. तेन + एव = तेनैव (वृद्धिरेचि)

अयममृतनिधानं नायकोऽप्योषधीनां,
शतभिषगनुयातः शम्भुमूर्ध्नोऽवतंसः।
विरहयति न चैनं राजयक्ष्मा शशांकं,
हतविधिपरिपाकः केन वा लंघनीयः॥१०२॥

अन्वय– अयम् अमृतनिधानम्, ओषधीनाम् नायकः, शतभिषक् अनुयातः, शम्भुमूर्ध्नी अवतंसः अपि (भवति), (तथापि) एनम् च शशाङ्कम् राजयक्ष्मा न विहरयति वा हतविधिपरिपाकः केन लग्नीयः।

अनुवाद– यह अमृत का भण्डार, औषधियों का नायक, सैकड़ों चिकित्सकों द्वारा अनुगमन किया गया, महादेव के सिर का आभूषण भी (बनता है), (फिर भी) इस चन्द्रमा को राजयक्ष्मा (रोग) नहीं छोड़ता है अथवा दुर्भाग्य का परिणाम किसके द्वारा उल्लंघन करने योग्य है।

व्याख्या– जब व्यक्ति का दुर्भाग्य उसका अनुकरण करता है, तब वह कितने भी अधिक साधनों से युक्त क्यों न हो, उसको कष्ट उठाना ही पड़ता है। अब चन्द्रमा का ही उदाहरण क्यों न ले लें। कहते हैं यह अमृत का भण्डार है, औषधियों को गुण प्रदान करने के कारण उन सबमें अग्रणी है तथा अनेकों चिकित्सक इसके महत्त्व को स्वीकार

करते हैं अथवा आकाश मण्डल में शतभिषा (तारामंडल) से घिरा हुआ है। इतना ही नहीं देवों के देव, महादेव के सिर का आभूषण है।

फिर भी दुर्भाग्यवश इसे जो राजयक्ष्मा रोग लगा हुआ है, जिसके कारण इसका प्रतिदिन क्षरण होता है, वह दूर नहीं हो रहा है। इसलिए इस सब को देखकर तो यही कहा जाना उचित प्रतीत होता है कि व्यक्ति के हिस्से का जो दुर्भाग्य है वह तो किसी भी परिस्थिति में व्यक्ति को भोगना ही होगा, उससे बचना उसके लिए पूर्णतया असम्भव है।

विशेष– १. दुर्भाग्य के परिणाम से कोई भी व्यक्ति बचने में समर्थ नहीं होता भले ही वह साधन सम्पन्न ही क्यों न हो।

२. शतभिषक पद में श्लेष अलंकार है, क्योंकि इसके दो अर्थ हैं— सैंकड़ों चिकित्सक और शतभिषा नामक तारामण्डल।

३. कवि की कल्पना है कि चन्द्रमा के प्रतिदिन क्षरण का कारण उसका राजयक्ष्मा नामक रोग है, जिससे वह दुर्भाग्य के परिणाम के कारण ग्रसित है।

४. मालिनी छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।

५. राजयक्ष्मा एक रोग जिसमें अंग गलने लगते हैं। इसे गलित कोढ़ भी कहते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √नी + ण्वुल् = नायकः
२. अमृत + नि + √धा + ल्युट् = अमृतनिधानम्
३. न मृतः इति, अमृतः (नञ् समास) √मृ + क्त = मृतः
४. अनु + √इण् (गतौ) + क्त = अनुयातः
५. शशः अङ्के यस्य सः (बहुव्रीहि) शशाङ्कः, तम् शशाङ्कम्
६. वि + √रह् + णिच् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) विरहयति
७. √लङ्घ् + अनीयर् = लङ्घनीयः (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)
८. अव + √तंस् + घञ् = अवतंसः (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)
९. अमृतस्य निधानम् (षष्ठी तत्पुरुष) अमृतनिधानम्

प्रियसखे विपद्दण्डाघातप्रपातपरम्परा,
परिचयबले[१] चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः।
मृदमिव बलात् पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालवद्,
भ्रमयति मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति।।१०३।।

---

१. परिचयचले

अन्वय– प्रिय सखे! खल: विधि: प्रगल्भकुलालवत् (मम) मन: मृदम् इव बलात् पिण्डीकृत्य विपद्दण्डाघातप्रपातपरम्परापरिचय बले चिन्ता चक्रे निधाय भ्रमयति, अत्र किम् विधास्यति इति नो जानीम:।

अनुवाद– प्रिय मित्र! दुष्ट विधाता निपुण कुम्हार के सम्मान हमारे मन को मिट्टी के समान, बलपूर्वक पिण्ड बनाकर विपत्ति रूपी डण्डे के प्रहारों से, अत्यन्त गिराने की परम्परा के परिचय रूपी बल वाले चिन्ता रूपी चक्र पर रखकर घूमा रहा है, यहाँ (वह) क्या बनायेगा, यह (हम) नहीं जानते हैं।

व्याख्या– हे मित्र! यह दुष्ट विधाता मेरे मन के साथ ठीक वैसा ही निर्दयतापूर्वक आचरण कर रहा है जैसा एक घड़ा बनाने में निपुण कुम्हार मिट्टी के साथ करता है, क्योंकि कुम्हार पहले मिट्टी को कठोरता के साथ उसका पिण्ड बना लेता है। उसके बाद वह उसे डण्डों के प्रहारों से अत्यन्त निर्दयतापूर्वक कूटता है और पुन: उस मिट्टी के लोंधे को बार-बार ऊपर उठा कर जमीन पर पटकता है। इस प्रकार उसे अनेकश: प्रपीडित करने के बाद ही चक्र पर चढ़ा कर घड़े आदि का निर्माण करता है।

इसी प्रकार यह विधाता भी मेरे मिट्टी के समान मन को बलपूर्वक दबाते हुए पिण्ड के रूप में बनाकर, विपत्ति रूपी डण्डों के प्रहारों से तथा अनेक असफलताओं रूपी गिराने की परम्परा के बल से, चिन्ता रूपी चक्र पर रखकर निरन्तर घूमा रहा है। यह मैं नहीं जान पा रहा हूँ कि विधाता इस सब प्रक्रिया को पूर्ण करने के पश्चात् मेरे मन रूपी मिट्टी के द्वारा क्या बनाएगा। अर्थात् विधाता की मन: स्थिति को मैं नहीं समझ पा रहा हूँ।

विशेष– १. विधाता की प्रत्येक क्रिया का फल परिणाम के द्वारा ही जाना जा सकता है, पहले नहीं।

२. विधाता की तुलना निपुण कुम्हार के साथ की गई है।

३. विधाता के लिए खल शब्द का प्रयोग उसे गाली देने के समान है।

४. यहाँ द्वितीय चरण के प्रारम्भ में परिचय बल के स्थान पर 'परिचय चले' भी पाठ उपलब्ध होता है। जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

५. जब मनुष्य पर विपरीत विधाता का कठोरतापूर्वक शक्तिपरीक्षण होता है, तो उसके मन की दशा कुम्हार की मिट्टी से भी बदतर होती है।

६. कठिन एवं विपरीत परिस्थिति में पड़े व्यक्ति की मन:स्थिति का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया गया है।

७. हरिणी छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है–

रसयुगहयैर्न्सौम्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा।

८. रूपक अलंकार का प्रयोग हुआ है– **'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो:।'**

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. पिण्ड + च्वि + √कृ + ल्यप् = पिण्डीकृत्य

२. प्रगल्भः कुलालः, प्रगल्भकुलालः (कर्मधारय) तेन तुल्यः

३. √भ्रम् + णिच् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) भ्रमयति

४. वि + √धा + तिप् (लृट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) विधास्यति

५. नि + √धा + ल्यप् = निधाय

६. चिन्ता एव चक्रम्, चिन्ता चक्रम् (कर्मधारय) तस्मिन् चिन्ताचक्रे

७. प्र + √गल्भ् + अच् = प्रगल्भः

८. वि + √धा + कि = विधिः (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

९. मनः + नो = मनो नो (हशि च से :— उ— ओ)

१०. नो यहाँ अव्यय पद निषेध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह न + उ दो अव्यय पदों से मिलकर बनता है। न + उ = नो (आद् गुणः सूत्र से गुण)

विरम विरमायासादस्माद् दुरध्यवसायतो,
विपदि महतां धैर्यध्वंसं यदीक्षितुमीहसे।
अयि जड़विधे! कल्पापायेऽप्यपेतनिजक्रमाः,
कुलशिखरिणः क्षुद्रा नैते न वा जलराशयः॥१०४॥

अन्वय– अयि जड़विधे! यत् (त्वम्) विपदि महताम् धैर्यध्वंसम् ईक्षितुम् ईहसे, अस्मात् दुरध्यवसायतः आयासात्, विरम विरम। एते कल्पापाये अपि अपेतनिजक्रमाः क्षुद्राः कुलशिखरिणः न, न वा जलराशयः (सन्ति)।

अनुवाद– हे जड़बुद्धि विधाता! जो (तुम) विपत्ति में महान् पुरुषों के धैर्य के विनाश को देखना चाहते हो, इस दुराग्रह रूप परिश्रम से रुक जाओ, रुक जाओ। ये (महापुरुष) कल्प के अन्त होने पर भी, नष्ट कर दिया है, अपनी मर्यादा को जिन्होंने ऐसे कुल पर्वत नहीं (हैं) और न ही क्षुद्र समुद्र (हैं)।

व्याख्या– विधाता अपनी अज्ञानतावश महापुरुषों के धैर्य की, कठोरतम आपत्तियों का आघात करता हुआ मानो परीक्षा लेता रहता है, जो किसी भी दृष्टि से उसका विवेकपूर्ण कार्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह सोचता है कि महान् पुरुषों का धैर्य विपत्तियों के सामने नष्ट हो जायेगा।

कवि विधाता को इस अविवेकपूर्ण कार्य से रोकते हुए कहता है कि ये महापुरुष कुल पर्वतों अथवा समुद्र के समान क्षुद्र प्रवृत्ति वाले नहीं हैं, क्योंकि उनका प्रलयकाल में धैर्य नष्ट हो जाता है, वे अपनी मर्यादाओं का परित्याग कर देते हैं, किन्तु इन महापुरुषों का धैर्य तो कल्प के अन्त में भी नष्ट नहीं होता है, अपितु पूर्ववत् बना रहता है।

अतः हे दुर्बुद्धि विधाता! तुम महापुरुषों के धैर्य को नष्ट करने रूप अपने निरर्थक प्रयासे से बस करो, अपने दुराग्रह का तुम परित्याग कर दो, क्योंकि इस कार्य में तुम्हें लेशमात्र भी सफलता प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है। यह अविवेकपूर्ण कार्य तुम्हारी बुद्धि की अपंगता का ही परिचायक है।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक में विधाता के विवेकरहित कार्य के लिए उसे जड़बुद्धि कहा गया है।

२. महापुरुष विकट से विकट परिस्थिति में भी अपने धैर्य को नहीं खोते हैं।

३. उपमेय महापुरुषों को उपमान समुद्र और कुल पर्वतों से भी बढ़कर बताया गया है। अतः व्यतिरेक अलंकार, लक्षण—

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।

४. यहाँ भी हरिणी छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण पूर्ववत् है।

५. प्रलयकाल में समुद्र अपनी मर्यादाओं को छोड़ देता है। कुल पर्वत भी टूट फूट कर अपने आकार और मर्यादा का त्याग कर देते हैं। अतः उनके लिए क्षुद्र पद का प्रयोग किया गया है।

६. नीतिशतकम् की कुछ प्रतियों में यह श्लोक उपलब्ध नहीं है।

७. 'आर्य' सम्बोधन वाचक अव्यय पद।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. वि + √रम् + सिप् (लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन) विरम

२. दुष्टः अध्वसायः यस्मिन् सः, तस्मात् = दुरध्यवसायतः

३. √ईक्ष् + तुमुन् = ईक्षितुम्

४. आ + √यस् + घञ् = आयासः, तस्मात् आयासात्

५. धैर्यस्य ध्वंसम् (षष्ठी तत्पुरुष) धैर्यध्वंसंम्

६. कल्पस्य अपाये (षष्ठी तत्पुरुष) कल्पापाये

७. वा पद का प्रयोग 'समुच्चय' अर्थ में भी स्वीकार किया जा सकता है।

८. न + एते = नैते (वृद्धिरेचि) (अ + ए = ऐ)

दैवेन प्रभुणा स्वयं जगति यद्यस्य प्रमाणीकृतं,
तत्तस्योपनमेन्मनागपि महान्नैवाश्रयः कारणम्।
सर्वाशापरिपूरके जलधरे वर्षत्यपि प्रत्यहं,
सूक्ष्मा एव पतन्ति चातकमुखे द्वित्रा पयोबिन्दवः॥१०५॥

अन्वय– प्रभुणा दैवेन जगति स्वयम् यस्य यत् प्रमाणीकृतम्, तत् तस्य उपनमेत्, महान् आश्रयः मनाक् अपि कारणम् न एव (भवति)। सर्वाशापरिपूरके जलधरे प्रत्यहम् वर्षति अपि चातकमुखे सूक्ष्माः एव द्वित्राः पयोबिन्दवः पतन्ति।

अनुवाद– सामर्थ्यशाली विधाता के द्वारा संसार में स्वयं जिसका जो निश्चित कर दिया, वह (स्वयं ही) उसके पास आ जायेगा। महान् आश्रय (इसमें) थोड़ा भी कारण नहीं (होता है)। सभी दिशाओं में भरपूर बरसने वाले मेघ के प्रतिदिन बरसने पर भी चातक के मुँह में मुश्किल से दो तीन जल की बूँदे (ही) गिरती हैं।

व्याख्या– पूर्णतया समर्थ भाग्य के द्वारा ही संसार के प्रत्येक प्राणी के हिस्से का स्वयं निर्धारण कर दिया जाता है। भाग्य की प्रबलता के कारण यह हिस्सा उसके पास स्वत: ही आ जाता है अर्थात् उसके लिए उसे चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है और इस विषय में ऐसा भी नहीं है कि प्रभावशाली व्यक्ति को यह अधिक प्राप्त हो जाएगा।

इस विषय में चातक और मेघ का उदाहरण द्रष्टव्य है। मेघ अपना जल सभी दिशाओं में पूरी सामर्थ्य के साथ रोजाना बरसाता है, किन्तु फिर भी चातक के मुँह में बड़ी मुश्किल से दो तीन बूँदे ही गिर पाती हैं। इसका प्रमुख कारण भाग्य ही है, जिसके कारण उसके हिस्से में बादल के रोजाना मूसलाधार बरसने पर भी दो तीन बूँदे ही निर्धारित होने के कारण, उससे अधिक प्राप्त नहीं हो पाती हैं।

विशेष– १. भाग्य की प्रबलता एवं सामर्थ्य का अत्यन्त सुन्दरतापूर्वक निदर्शन सहित प्रतिपादन किया गया है।

२. इसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति 'यद् धात्रा निजभालपट्ट'[1]......इत्यादि श्लोक में भी की गई है।

३. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है–

सूर्याश्वैर्मसजास्तता: सगुरव: शार्दूलविक्रीडितम्।

४. सर्वाशा का अर्थ विद्वानों ने 'सभी लोगों की आशाओं को पूरा करने वाले', भी किया है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. प्रमाण + च्वि + √कृ + क्त = प्रमाणीकृतम्
२. उप + √नम् + तिप् (विधिलिंग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) उपनमेत्
३. परि + √पूर् + ण्वुल् = परिपूरके (सप्तमी विभक्ति, एकवचन)
४. जल + √धृ + अच् = जलधर:, तस्मिन् जलधरे (सप्तमी विभक्ति, एकवचन)
५. अहनि अहनि इति प्रत्यहम् (अव्ययीभाव)
६. √पत् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) पतन्ति
७. पयसां बिन्दु: पयोबिन्दु: (षष्ठी तत्पुरुष) ते पयोबिन्दव:
८. √वृष् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) वर्षति
९. वर्षति + अपि = वर्षत्यपि (इकोयणचि) (इ– य्)

---

१. द्रष्टव्य श्लोक संख्या- ४९

पातितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः।
प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः॥१०६॥

अन्वय– कन्दुकः करघातैः पातितः अपि उत्पतति एव। साधुवृत्तानाम् विपत्तयः प्रायेण अस्थायिन्यः (भवन्ति)।

अनुवाद– गेंद हाथ के प्रहारों से गिराई गई भी ऊपर उठती ही है। अच्छे चरित्र वाले लोगों की आपत्तियाँ (भी) प्रायः अस्थायी (होती हैं)।

व्याख्या– जिस प्रकार गेंद पर हाथ से चोट करने पर पहले तो वह नीचे चली जाती है, किन्तु अगले ही क्षण वह उछलकर ऊपर उठ जाती है, ठीक उसी प्रकार श्रेष्ठ चरित्र वाले लोगों की आपत्तियाँ भी स्थायी नहीं होती अर्थात् सत्चरित्र वाले पर आपत्तियाँ दैववश आती तो हैं, किन्तु वे स्थायी नहीं होती हैं, सदा नहीं रहती, कुछ दिन बाद स्वतः ही नष्ट हो जाती हैं।

विशेष– १. सज्जनों की आपत्तियों को अस्थायी बताया है।

२. सज्जनों पर विपत्ति की तुलना, गेंद पर हाथ के प्रहार से नीचे जाने से की गई है।

३. प्रथम चरण तथा द्वितीय चरण का अर्थ व्यवस्थित करने के लिए उपमा की परिकल्पना करने के कारण निदर्शना अलंकार लक्षण— 'अभवन् वस्तुसम्बन्धः उपमा परिकल्पकः। निदर्शना॥'

४. अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं, सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयो र्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

५. प्रस्तुत श्लोक नीतिशतकम् की सभी प्रतियों में उपलब्ध नहीं होता।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √पत् + णिच् + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) पातितः

२. आ + √हन् + घञ् = आघातः

३. साधूनि वृत्तानि येषां तेषाम्, साधुवृत्तानाम्

४. वि + √पद् + क्तिन् = विपत्ति (प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) विपत्तयः

५. न स्थायिन्यः, अस्थायिन्यः (नञ् समास)

६. √स्था + णिनि = स्थायिन् + ङीप् = स्थायिनी (प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) स्थायिन्यः

७. पतति + एव (यण् – इकोयणचि, इ— य्)

८. पातितः + अपि (अतो रोरप्लुतादप्लुते) (ः— उ— ओ)

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं,
गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां,
विधिरहो बलवान् इति मे मतिः॥१०७॥

अन्वय– शशि-दिवाकरयोः ग्रहपीडनम्, गज-भुजङ्गमयोः बन्धनम् अपि, मतिमताम् च दरिद्रताम् विलोक्य, मे मतिः इति (अस्ति), अहो विधिः बलवान्।

अनुवाद– सूर्य और चन्द्रमा को ग्रहों (राहू, केतु) द्वारा पीडित किए जाने को, हाथी और सांप के बन्धन को भी (देखकर) और बुद्धिमानों की दरिद्रता को देखकर मेरी बुद्धि तो यही है कि अहो! भाग्य (ही) बलवान् (है)।

व्याख्या– जब हम सूर्य और चन्द्रमा जैसे विशाल आकार वाले तेजस्वी ग्रहों को राहू और केतु जैसे ग्रहों के द्वारा पीड़ित किया जाता हुआ देखते हैं। इसके अलावा जब हम हाथी जैसे शक्तिशाली एवं भयंकर सर्प जैसे विषैले और खतरनाक जीवों का बांधा जाना भी देखते हैं।

इसी प्रकार जब हम इस संसार में देखते हैं कि अत्यन्त बुद्धिमान् व्यक्ति भी दरिद्रता में अत्यन्त दयनीय जीवन जीने के लिए बाध्य है, तो उस स्थिति में हमारी बुद्धि केवल एक ही निश्चय पर पहुँचती है कि भाग्य वस्तुतः बलवान् होता है। कोई कितना भी प्रभावशाली, भयंकर, समर्थ अथवा योग्य क्यों न हो, दुर्भाग्य के वशीभूत होकर उनको भी कष्ट और आपत्तियों का सामना करना पड़ता है।

विशेष– १. कवि ने सूर्य, चन्द्रमा, हाथी और सांप तथा विद्वान् का उदाहरण देते हुए भाग्य की प्रबलता का प्रतिपादन अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया है।

२. पुराणों के अनुसार सूर्य और चन्द्र का ग्रसन (ग्रहण) राहू और केतु नामक राक्षस ग्रहों के द्वारा किया जाता है, किन्तु वर्तमान वैज्ञानिक युग में यह बात निराधार सिद्ध हो गयी है।

३. अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के तेज, बल, पौरुष आदि सबकी निरर्थकता प्रतिपादित की गई है।

४. द्रुतविलम्बित छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।

५. समुच्चय तथा अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. शशी च दिवाकरश्च शशिदिवाकरौ, तयोः शशिदिवाकरयोः (द्वन्द्व समास)

२. √पीड् + ल्युट् = पीडनम्। ग्रहाभ्याम् पीडनम् (तृतीया तत्पुरुष) ग्रहपीडनम्

३. गजश्च भुजङ्गश्च गजभुजङ्गौ, तयोः गजभुजङ्गमयोः (द्वन्द्व समास)

४. √बन्ध् + ल्युट् = बन्धनम्

५. मति + मतुप् = मतिमत् (षष्ठी तत्पुरुष) मतिमताम्

६. दरिद्र + तल् = दरिद्रता, ताम् दरिद्रताम्

७. वि + √लोक् + ल्यप् = विलोक्य

८. √मन् + क्तिन् = मतिः

९. शशिदिवाकरयोः + ग्रहपीडनम् (विसर्जनीयस्य सः, ससजुषो रुः)

१०. गजभुजङ्गमयोः + अपि (विसर्जनीयस्य सः, ससजुषो रुः)

११. विधिः + अहो (विसर्जनीयस्य सः, ससजुषो रुः)

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं,
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्।
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं,
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः।।१०८।।

अन्वय– यदा करीरविटपे पत्रम् न एव (भवति), वसन्तस्य किम् दोषः ? उलूकः दिवा अपि यदि न अवलोकते, सूर्यस्य किम् दूषणम् ? (यदि) चातकमुखे धाराः न एव (पतन्ति), मेघस्य किम् दूषणम् ? विधिना यत् पूर्वम् ललाटलिखितम् तत् मार्जितुम् कः क्षमः ?

अनुवाद– यदि करील के वृक्ष पर पत्ता नहीं (होता है, तो) वसन्त का क्या दोष ? उल्लू दिन में भी यदि नहीं देखता (तो) सूर्य का क्या दोष ? (यदि) चातक के मुख में (जल की) धारा नहीं (गिरती है, तो) मेघ का क्या दोष ? विधाता के द्वारा जो पहले मस्तक पर लिख दिया (तो) उसे मिटाने में कौन समर्थ है ?

व्याख्या– भाग्य में लिखा हुआ कोई भी मिटाने में समर्थ नहीं है, इसी बात का प्रतिपादन कवि ने कुछ उदाहरण देकर किया है— सामान्य रूप में वसन्त ऋतु में सभी वनस्पतियों पर फूल और सुन्दर पत्ते आ जाते हैं, जिनसे उनकी शोभा में वृद्धि होती है, किन्तु इसके विपरीत करीर का वृक्ष इस सुन्दर ऋतु में भी पत्तों से रहित रहता है। इसमें वसन्त ऋतु का तो कोई दोष नहीं माना जायेगा। यह उसका दुर्भाग्य ही है, जिसे कोई भी मिटाने में समर्थ नहीं है।

इसी प्रकार सूर्य दिन भर संसार को आलोकित करता है, जिसमें सभी प्राणी इस सुन्दर संसार का अवलोकन करते हैं, किन्तु यदि उल्लू अपने भाग्य-दोष के कारण दिन में भी नहीं देख पाता है, तो इसमें सूर्य का तो कोई दोष मानना उचित नहीं है।

बादल धरती पर चारों ओर समान रूप से वर्षा करता है, किन्तु यदि उसके जल की बूँदे चातक के मुख में नहीं गिरती हैं तब यह तो चातक का ही दुर्भाग्य है, बादल को इस विषय में दोषी कहना लेशमात्र भी उचित नहीं है। विधाता ने ही इस प्रकार

चातक का प्यासा रहना, उसके भाग्य में लिख दिया, अतः उसे मिटाना तो किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

विशेष– १. विधि के विधान को बदलने में कोई भी समर्थ नहीं है। यदि भाग्य में नहीं है तो व्यक्ति को संसार में समृद्धि होने पर भी लेशमात्र भी मिलना सम्भव नहीं है।

२. करील वृक्ष की विशेषता है कि उस पर वसन्त ऋतु में भी पत्ते नहीं आते हैं।

३. चातक के विषय में प्रसिद्ध है कि वह वर्षा के जल की बूँद से ही अपनी प्यास शान्त करता है।

४. भाग्य की प्रबलता का सुन्दरता से प्रतिपादन किया है।

५. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है— लक्षण—

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

६. अर्थापत्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. करीरस्य विटपे (षष्ठी तत्पुरुष) करीरविटपे

२. अव + √लोक् + त (आत्मने, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) अवलोकते

३. √दूष् + ल्युट् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) दूषणम्

४. ललाटे लिखितम् (सप्तमी तत्पुरुष) ललाटलिखितम्

५. √मृज् + तुमुन् = मार्जितुम्

६. √क्षम् + अच् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) क्षमः

७. न + एव = नैव (वृद्धिरेचि— अ + ए = ऐ)

८. न + उलूकः + अपि + अवलोकते (आद् गुणः, अतो रोरप्लुतादप्लुते, इकोयणचि, अ + उ = ओ, :— उ— ओ, इ— य्)

९. √लिख्+ क्त = लिखितम्

१०. √पत् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) पतन्ति

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः,
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निष्क्लेशलेशं मनः।
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं,
तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ संप्राप्यते देहिना।।१०९।।

अन्वय– विष्टपहारिणी इष्टद हरौ तुष्टे, देहिना सच्चरितः सूनुः, सती प्रियतमा, प्रसादोन्मुखः स्वामी, स्निग्धम् मित्रम्, अवञ्चकः परिजनः, निष्क्लेशलेशम् मनः, रुचिरः आकारः, स्थिरः विभवः, विद्यावदातम् च मुखम् सम्प्राप्यते।

अनुवाद– संसार (के कष्टों) का हरण करने वाले, मनोवाञ्छित (वस्तु) प्रदान करने वाले भगवान् विष्णु के प्रसन्न होने पर देहधारी (मनुष्य) के द्वारा श्रेष्ठ आचरण

वाला पुत्र, सती साध्वी पत्नी, कृपालु स्वामी, स्नेही मित्र, कपटरहित सेवक, क्लेश के अंश मात्र से शून्य मन, सुन्दर आकार, स्थिर ऐश्वर्य और विद्या से पवित्र मुख प्राप्त किया जाता है।

व्याख्या– परम कृपालु भगवान् विष्णु, जो संसार के सभी प्रकार के कष्टों का हरण करने में सक्षम हैं तथा मनोवाञ्छित वस्तु को प्रदान करने वाले हैं, के पूर्ण प्रसन्न होने पर इस संसार में व्यक्ति को उत्तम आचरण वाला पुत्र, एकमात्र पति के प्रति ही अनुरक्त रहने वाली, प्रिय लगने वाली पत्नी, ऐसा स्वामी जो कठोरतापूर्वक आचरण नहीं करता हो, अपितु दयाभाव से युक्त हो, अत्यन्त प्रेम करने वाले मित्र तथा निश्छल एवं समर्पित भाव से सेवा करने वाले सेवक तथा कपटरहित बन्धु लोग, पूर्णतया प्रसन्न रहने वाला मन, अत्यन्त मनोहर आकृति और कभी भी समाप्त न होने वाला ऐश्वर्य, धन-धान्य एवं विद्या से पवित्र मुख प्राप्त किया जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इस संसार में ऊपर गिनाई गई वस्तुओं एवं विशेषताओं की प्राप्ति मनुष्य को सहज ही नहीं होती है और जिन्हें होती है, वे या तो अत्यन्त पुण्यवान् होते हैं या फिर अत्यन्त कृपालु भगवान् विष्णु ही यदि उनपर प्रसन्न हो जाएँ। दोनों ही स्थितियों में उपरोक्त का प्राप्त होना सौभाग्य का सूचक है।

विशेष– १. उपर्युक्त सभी बातें व्यक्ति को यदि प्राप्त हो सकें तो निश्चय ही वह सर्वाधिक सौभाग्यशाली होगा और वह सौभाग्य भगवान् विष्णु की कृपा से ही सम्भव है।

२. प्रस्तुत श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि भर्तृहरि वैष्णव मतावलम्बी थे।

३. श्लोक में प्रयुक्त परिजन का अर्थ सम्बन्धी भी किया जा सकता है।

४. कुछ विद्वानों के मत में यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

५. शार्दूलविक्रीडित छन्द प्रयुक्त हुआ है। लक्षण—

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।।

६. श्लोक में प्रयुक्त 'हारिणी' पद का अर्थ 'रञ्जयति' भी किया जा सकता है, तब अर्थ होगा संसार को प्रसन्न करने वाले, किन्तु यह अर्थ उतना प्रभावशाली प्रतीत नहीं होता।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √तुष् + क्त = तुष्टे (सप्तमी विभक्ति, एकवचन)

२. देह + इनि = देहिन् (तृतीया विभक्ति, एकवचन) देहिना

३. प्रिय + तमप् + टाप् (प्रथमा विभक्ति, एकवचन) प्रियतमा

४. प्रसाद + उन्मुखः = प्रसादोन्मुखः (गुण, आद् गुणः) प्रसादाय उन्मुखः (चतुर्थी तत्पुरुष)

५. √स्निह् + क्त (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) स्निग्धम्

६. न वञ्चकः, अवञ्चकः (नञ् तत्पुरुष) √वञ्च् + ण्वुल् = वञ्चक

७. क्लेशस्य लेशः, क्लेशलेशः, निर्गतः क्लेशः यस्मात् तत् निष्क्लेशलेशम् (अव्ययीभाव समास)

८. विद्यया अवदातम् (तृतीया तत्पुरुष) विद्यावदातम्

९. अव + √दै + क्त = अवदातम् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

१०. विष्टपं हर्तुम् शीलम् यस्य सः, विष्टपहारी (बहुव्रीहि) विष्टप् + √हृ + णिनि = विष्टपहारिन्

११. इष्ट + √दा + क = इष्टद

१२. आ + √कृ + घञ् = आकारः

कर्म-पद्धतिः

नमस्यामो देवान्नु हतविधेस्तेऽपि वशगाः,
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः।
फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किञ्च विधिना,
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न तेभ्यः प्रभवति॥११०॥

अन्वय- (वयम्) देवान् नमस्यामः, ननु ते अपि हतविधेः वशगाः, विधिः वन्द्यः, सः अपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः, फलम् कर्मायत्तम्, अमरगणैः किम्? किम् च विधिना? तत् कर्मभ्यः नमः येभ्यः विधिः अपि न प्रभवति।

अनुवाद- (हम) देवताओं को नमस्कार करते हैं, किन्तु वे भी दुष्ट विधाता के वश में हैं। (तो फिर) विधाता ही वन्दना के योग्य है, वह भी केवल निश्चित कर्म के अनुसार (ही) फल देने वाला है (इस प्रकार यदि) फल (मात्र) कर्म के अधीन हैं (तो) देवताओं से क्या? और विधाता से क्या? उन कर्मों को (ही) नमस्कार है, जिन पर विधाता का भी प्रभाव नहीं होता है।

व्याख्या- कवि सर्वप्रथम देवताओं को शक्तिशाली एवं सर्वोपरि मानते हुए उनके प्रति नमन करता है, किन्तु तभी उसे विचार आता है कि देवता भी सर्वोपरि नहीं हैं, वे भी भाग्य के अधीन हैं, क्योंकि उनके आदेश की पालना में ही वे अनेक कार्य करने को बाध्य हैं। तब कवि विधाता को सर्वोपरि समझते हुए उसे नमन करने का विचार बनाता है, तभी उसे ध्यान आता है कि यह विधाता भी पूर्णतया स्वतन्त्र शक्ति नहीं है, अपितु यह जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल प्रदान, करता है, कर्म फल में उसकी इच्छा लेशमात्र भी प्रभावी नहीं होती।

पुनः कवि विचार करता है— जब फल प्राप्ति पूर्णतया कर्म के अनुसार ही होती है अर्थात् व्यक्ति यदि अच्छे कर्म करेगा तो अच्छा फल मिलेगा और यदि पाप कर्म करेगा

तो निश्चय ही उसे बुरे फल की प्राप्ति होगी। तो फिर कवि कहता है कि तब हमें देवताओं की वन्दना से क्या लाभ? अर्थात् हम उनकी वन्दना नहीं करेंगे। इसी प्रकार उस विधाता के प्रति भी नमन से कोई लाभ नहीं है।

हम तो एक मात्र कर्म की ही पूजा करते हैं, जिनको करने पर विधाता भी फल देने के लिए बाध्य होगा।

विशेष– १. कर्म की ही सर्वोपरि महत्ता का सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

२. प्रस्तुत श्लोक में 'हत' पद विधाता के प्रति उपेक्षा प्रकट करते हुए गाली के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

३. प्रकृति में पूर्णतया कर्मफल का सिद्धान्त ही लागू होता है।

४. शिखरिणी छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है—

रसै:रुद्रैश्छिन्ना यमन सभलाग: शिखरिणी।।

५. 'नमस्याम:' पद यहाँ वर्तमानकालिक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए नाम धातु पद से बनकर प्रयुक्त हुआ है।

६. 'ननु' अव्यय का प्रयोग 'किन्तु' अर्थ की अभिव्यक्ति में हुआ है।

७. नम:स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषट् योगाच्च सूत्र से नम: के योग में 'तेभ्य: कर्मभ्य:' में चतुर्थी विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. नमस् (नाम धातु) + क्यच् (लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन) नमस्याम:
२. हत: विधि: हतविधि: तस्य (कर्मधारय) हतविधे:
३. वशम् गच्छन्ति इति वशगा:
४. √वन्द् + ण्यत् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) वन्द्य:
५. नियतम् नियतम् प्रति प्रतिनियतम् (अव्ययीभाव)
६. फल + √दा + क = फलद: (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)
७. आ + √यत् + क्त = आयत्तम्
८. अमराणाम् गण:, अमरगण: तै: अमरगणै: (षष्ठी तत्पुरुष)
९. प्र + √भू + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) प्रभवति
१०. कर्मणाम् आयत्तम् = कर्मायत्तम् (षष्ठी तत्पुरुष)
११. नमस्याम: + देवान् (हशि च - :— उ— ओ— आद् गुण: से)
१२. हतविधे: + ते + अपि (विसर्जनीयस्य स:, अतो रोरप्लुतादप्लुते)
१३. विधि: + वन्द्य: (विसर्जनीयस्य स:, ससजुषो रु:) (:— र्)
१४. कर्म + एक = कर्मैक (वृद्धिरेचि, अ + ए = ऐ)
१५. कर्म + आयत्तम् (अक: सवर्णे दीर्घ:— अ + आ = आ)

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटको भिक्षाटनं कारितः[1],
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे॥१११॥

अन्वय- येन (कर्मणा) ब्रह्मा (अपि) कुलालवत् ब्रह्माण्ड भाण्डोदरे नियमितः, येन विष्णुः (अपि) दशावतार- गहने महासंकटे क्षिप्तः, येन कपालपाणिपुटकः रुद्रः (अपि) भिक्षाटनम् कारितः, (येन) सूर्यः गगने नित्यम् एव भ्राम्यति, तस्मै कर्मणे नमः।

अनुवाद- जिस (कर्म) के द्वारा ब्रह्मा (भी) कुम्हार के समान, ब्रह्माण्ड रूपी बर्तन के अन्दर नियन्त्रित कर दिया गया, जिसके द्वारा विष्णु (भी) दस अवतार रूपी गम्भीर (और) महान् संकट में डाल दिया गया। जिसके द्वारा कपाल रूपी दोने को हाथ में लिए हुए शिव से (भी) भिक्षावृत्ति करा दी गई। (जिसके द्वारा) सूर्य (भी) आकाश में नित्य ही घूमाया जा रहा है, उस कर्म को नमस्कार है।

व्याख्या- कर्म के प्रभाव से कोई नहीं बच सकता, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली देवता ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी नहीं, इसका प्रतिपादन प्रस्तुत श्लोक में करते हुए कवि कहता है कि— कर्म की सामर्थ्य के कारण ही सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण करने वाला ब्रह्मा भी ब्रह्माण्ड रूपी बर्तन के भीतर बन्द होकर, कुम्हार जिस प्रकार बर्तन बनाने में लगा रहता है, ठीक उसी प्रकार इस सृष्टि का निर्माण करने में दिन-रात बिना विश्राम किए लगा हुआ है।

इसी प्रकार यह कर्म का ही प्रभाव है कि उसने सामर्थ्यशाली संसार का पालन करने वाले भगवान् विष्णु को भी एक दो नहीं, अपितु पूरे दस-दस अवतार लेने के लिए बाध्य कर दिया तथा उनमें उन्हें अनेकों कष्टों का भी सामना करना पड़ा।

इतना ही नहीं उसी शक्तिशाली एवं प्रभावशाली कर्म ने सम्पूर्ण संसार का विनाश करने वाले, भयंकर प्रलयकारी देवता भगवान् रुद्र को भी मृत मनुष्य की खोपड़ी का भिक्षा पात्र हाथ में लेकर भिक्षावृत्ति के लिए बाध्य कर दिया।

इतना ही नहीं सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करने वाला, तेजस्वी सूर्य भी जिसके आदेश एवं प्रभाव के कारण आकाश में एक दो दिन से नहीं, अपितु अनन्त काल से चक्कर लगाने के लिए बाध्य है। ऐसे प्रभावशाली उस कर्म को प्रणाम हैं अर्थात् अन्त में कवि कर्म की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार कर नमन करता है।

विशेष- १. ब्रह्मा, विष्णु और शिव जैसे महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली देवता भी कर्म के द्वारा नियन्त्रित हैं। अतः कर्म की सर्वोच्चसत्ता स्वतः सिद्ध है।

---

१. कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं सेवते।

२. ब्रह्मा को निर्माण का, विष्णु को पालन का तथा शिव को विनाश का देवता माना जाता है।

३. पुराणों के अनुसार, भगवान् विष्णु ही संसार को कष्टों से मुक्ति दिलाने के लिए अनेक अवतार ग्रहण करते हैं।

४. 'नमः' पद को योग में 'कर्मणे' में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ है— सूत्र नमः स्वस्तिस्वाहा स्वधाऽलं वषट्योगाच्च।

५. शिव की विशेषता है कि वे मनुष्य की खोपड़ी रूपी पात्र को ही सदा अपने पास रखते हैं तथा सर्वसामर्थ्यशाली होते हुए भी भिक्षाटन करके अपनी जीविका चलाते हैं।

६. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण—

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

७. ब्रह्मा की उपमा कुम्हार से दी गई है, अतः उपमालंकार, लक्षण—

प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधीयते।

८. ब्रह्माण्ड रूपी पात्र में रूपक अलंकार, लक्षण—

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

१. कुलाल + मतुप् = कुलालवत्, कुलालेन तुल्यः, इति

२. √क्षिप् + क्त = क्षिप्तः (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

३. महति सङ्कटे, महासंकटे (सप्तमी तत्पुरुष)। √कृ + णिच् + क्त (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) कारितः √भ्रम् + णिच् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) भ्राम्यति। कपालं पाणिपुटके यस्य सः, कपालपाणिपुटकः (बहुव्रीहि) दश अवताराः दशावताराः, तैः गहनम्, दशावतारगहनं, तस्मिन् दशावतारगहने अव + √तृ + घञ् = अवतारः पाणि एव पुटकम्, तस्मिन् (कर्मधारय) √भिक्ष् + अट् + ल्युट् = भिक्षाटनम् नि + √यम् + णिच् + क्त = नियमितः।

या साधूंश्च खलान् करोति, विदुषो मूर्खान् हितान् द्वेषिनः,
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हलाहलं तत्क्षणात्।
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं,
हे साधो! व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः॥११२॥

अन्वय— हे साधो! या खलान् साधून् करोति, मूर्खान् च विदुषः, द्वेषिणः हितान्, परोक्षम् प्रत्यक्षम् कुरुते, हलाहलम् तत् क्षणात् अमृतम् कुरुते, वाञ्छितम् फलम् भोक्तुम् ताम् भगवतीम् सत्क्रियाम् आराधय। व्यसनैः विपुलेषु गुणेषु वृथा आस्थाम् मा कृथाः।

अनुवाद– हे सज्जन, जो दुष्टों को सज्जन बनाती है और मूर्खों को विद्वान्, द्वेष करने वालों को हितकारी, परोक्ष को प्रत्यक्ष करती है। हलाहल (विष) को उसी क्षण अमृत बना देती है, मनोवाञ्छित फल को भोगने के लिए, उस देवी सत्क्रिया की आराधना करो। आसक्तियों के कारण बहुत से गुणों पर व्यर्थ श्रद्धा मत करो।

व्याख्या– मनुष्य एक मात्र सत्कार करने की क्रिया में निपुण हो जाता है तो फिर उसे अन्य किसी गुण की आवश्यकता नहीं है। घर आए अतिथि का व्यक्ति को अवश्य सत्कार करना चाहिए, क्योंकि यह दैवी गुणों से सम्पन्न सत्क्रिया मनुष्य को, यदि वह दुष्ट प्रकृति का है तो सज्जन बनाती है। यदि वह मूर्ख है तो उसे विद्वान् बनाती है, अर्थात् ऐसा करने से वह विद्वानों के सम्पर्क में आएगा तथा उसे अनेक विद्वानों का आशीर्वाद तथा मार्गदर्शन प्राप्त होगा।

जो लोग उससे शत्रुता रखते हैं वे उसके मित्र तथा हितेच्छु हो जाएँगे, जिस वस्तु का उसे ज्ञान नहीं है, वह भी जिनकी उसने सेवा की है तथा सत्कार किया है, उनसे प्रत्यक्षवत् ज्ञात हो जायेगी। इस अतिथि सत्कार रूपी देवी में तो वह गुण है कि यह हलाहल जैसे भयंकर विष के समान वातावरण एवं वस्तु को भी अमृत के समान मधुर और हितकारी बना देती है।

इसलिए अन्त में कवि सभी व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए कहता है कि यदि तुम सब अपने मनोवाञ्छित फल की प्राप्ति करना चाहते हो तो इस सत्क्रिया रूपी ऐश्वर्य की देवी की आराधना करो। अत्यधिक लालच एवं आसक्ति के कारण अलग-अलग अन्यान्य गुणों के पीछे भागना व्यर्थ है।

विशेष– १. प्रस्तुत श्लोक में सेवा (अतिथि सत्कार) को सर्वोपरि प्रतिपादित किया है। काव्यलिंग अलंकार का प्रयोग हुआ है।

२. यहाँ साधो शब्द व्यञ्जना से दुष्ट अर्थ की भी अभिव्यक्ति कर रहा है।

३. यदि व्यक्ति में सेवाभाव है तो वह निश्चय ही सभी का मन जीतने में समर्थ है। अतः व्यक्ति को सेवाभावी 'अतिथि देवो भव' की भावना वाला होना चाहिए।

४. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण—

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

५. हलाहल पुराणों के अनुसार समुद्र मंथन के समय समुद्र से निकला था, जिसके कारण सम्पूर्ण सृष्टि में हाहाकार मच गया था। बाद में देवताओं की प्रार्थना पर शिव ने उसे अपने कण्ठ में धारण किया था।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √द्विष् + णिनि = द्वेषिन् (द्वितीया विभक्ति, बहुवचन) द्वेषिनः

२. √वाञ्छ् + क्त (नपुं., द्वितीया विभक्ति, एकवचन) वाञ्छितम्

३. √भुज् + तुमुन् = भोक्तुम्

४. भग + वतुप् = भगवत् (स्त्रीलिंग, द्वितीया विभक्ति, एकवचन) भगवतीम्

५. √कृ + सिप् (लुङ् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन), कृथा:

६. यहाँ मा पद के योग में अकृथा: पद में अ के आगम का निषेध हुआ है।

७. हित + अच् = हित (पुल्लिंग, द्वितीया विभक्ति, बहुवचन) हितान्

८. अक्ष्णो: प्रति, प्रत्यक्षम् (अव्ययीभाव)

९. सत् + √कृ + इयङ् + टाप् = सत्क्रियाम्

१०. आ + √राध् + णिच् (लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन) आराधय

११. साधून् + च (नश्छव्यप्रशान्)न्— रु— :— स्— शं

१२. √कृ + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) करोति

१३. न मृतम्, इति अमृतम् (नञ् समास)

शुभ्रं सद्म सविभ्रमा युवतय श्वेतातपत्रोज्ज्वला,
लक्ष्मीरित्यनुभूयते चिरमनुस्यूते शुभे कर्मणि।
विच्छिन्ने नितरामनंगकलह क्रीडात्रुटत्तन्तुकं,
मुक्ताजालमिव प्रयाति झटिति भ्रश्यत् दिशो दृश्यताम्।।११३।।

अन्वय– चिरम् शुभे कर्मणि अनुस्यूते, शुभ्रम् सद्म, सविभ्रमा: युवतय:, श्वेतातपत्रोज्ज्वला लक्ष्मी: इति अनुभूयते, (किन्तु एतेषाम्) विच्छिन्ने नितराम् अनङ्गकलहक्रीडात्रुटत्तन्तुकम् मुक्ताजालम् इव भ्रश्यत् झटिति दिश: प्रयाति (इति) दृश्यताम्।

अनुवाद– चिरकाल तक शुभ कर्मों का उदय होने पर (मनुष्य के) द्वारा धवल (स्वच्छ) महल, विलासवती स्त्रियाँ, श्वेत छत्र से देदीप्यमान लक्ष्मी इत्यादि का अनुभव किया जाता है। (किन्तु इन कर्मों के) नष्ट होने पर अत्यन्त काम कलह की क्रीडा में टूटे हुए धागे वाले मोतियों के समूह के समान टूटते हुए शीघ्र ही (ये सब विविध) दिशाओं में फैल जाते हैं, (यह) जरा देखिये।

व्याख्या– मनुष्य के द्वारा किए गए पूर्वजन्मों के शुभ कर्म जब-जब उदित होते हैं तो उसे उन पुण्य कर्मों के फलस्वरूप संगमरमर के बने स्वच्छ सुन्दर और शुभ्र महलों में भोग भोगना, सुन्दर एवं अत्यन्त विलासपूर्ण चेष्टाओं से युक्त निपुण स्त्रियों का सान्निध्य एवं आनन्द तथा असीम ऐश्वर्य की स्वामिनी लक्ष्मी, जिसके ऊपर श्वेत छत्र सदैव देदीप्यमान रहता है, का उपभोग करने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

किन्तु जैसे ही ये पुण्य कर्म भोगने के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं और दूसरे पुण्य कर्मों के अभाव में ये सब सुख सुविधाएँ, भोग सामग्रियाँ आदि ठीक उसी प्रकार तितर-बितर

हो जाती हैं, जैसे अत्यन्त उद्दाम काम-क्रीड़ा के कलह में टूटे हुए धागे वाली माला के मोती सर्वत्र विविध दिशाओं में फैल जाते हैं।

आप सब भी इस विषय में गम्भीरता से विचार करें, यह कितनी आश्चर्यजनक बात है।

विशेष- १. पुण्यकर्मों का प्रभाव अद्भुत है। अतः व्यक्ति को सदैव शुभ कर्म ही करने चाहिएँ।

२. शुभ कर्मों के नष्ट होने पर सभी भोगसामग्री किस अप्रत्याशित ढंग से बिखर जाती है। उसके लिए माला के मोतियों की कल्पना अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है।

३. उपमालंकार का प्रयोग दर्शनीय है। लक्षण इस प्रकार है—

प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधीयते।।

४. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण—

सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

५. अनुप्रास अलंकार का प्रयोग भी प्रशंसनीय है। लक्षण—

अनुप्रासः शब्द साम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।

६. झटिति पद यहाँ अद्भुत कल्पना की अभिव्यक्ति कर रहा है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

१. वि + √छिद् + क्त (सप्तमी विभक्ति, एकवचन) विच्छिन्ने

२. √भ्रंश् + शतृ = भ्रश्यत्

३. विभ्रमैः सहिताः, सविभ्रमाः (अव्ययीभाव)

४. अनु + √भू + णिच् + त (आत्मनेः, प्रथम पुरुष, एकवचनं) अनुभूयते

५. अनु + √सिव् + क्त = अनुस्यूते (सप्तमी विभक्ति, एकवचन)

६. प्र + √इण् (गतौ) तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकबचन) प्रयाति

गुणवदगुणवद् वा कुर्वता कार्यमादौ,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः।।११४।।

अन्वय- गुणवत् अगुणवत् वा कार्यम् कुर्वता पण्डितेन आदौ यत्नतः परिणतिः अवधार्या। अतिरभस-कृतानाम् कर्मणाम् विपाकः आविपत्तेः शल्यतुल्यः हृदय दाहिं भवति।

अनुवाद- अच्छा या बुरा काम करते हुए विद्वान् के द्वारा प्रारम्भ में (ही) यत्नपूर्वक (उसके) परिणाम पर विचार कर लेना चाहिए, (अन्यथा) अत्यन्त जल्दी में

किए गए कार्यों का परिणाम मृत्युपर्यन्त कांटे के समान हृदय को जलाने (पीड़ा) वाला होता है।

व्याख्या– बुद्धिमान् व्यक्ति जब भी कोई अच्छा या बुरा कार्य प्रारम्भ करे, उससे पहले वह भलीप्रकार सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करते हुए, इस कार्य का परिणाम अच्छा होगा या बुरा यह जान लेवे।

कई बार व्यक्ति किसी काम को भावावेश में जल्दीबाजी में शुरू तो कर देता है, किन्तु उसके परिणाम उसे अत्यन्त कटु रूप में मिलते हैं, जिनका उसे मरणपर्यन्त अत्यन्त पश्चाताप होता रहता है, इस कार्य के फल उसके हदय को ठीक उसी प्रकार वेदना पहुँचाते हैं, जिस प्रकार कोई कांटा शरीर के मर्मस्थल हृदय में प्रवेश करने के बाद पीड़ा पहुँचाने वाला होता है, क्योंकि ये दोनों ही वेदनाएँ असह्य होती है। वह व्यक्ति पश्चाताप की अग्नि में जलता रहता है।

विशेष– १. व्यक्ति को किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व उसके परिणाम के प्रत्येक पक्ष पर भली-भाँति विचार कर लेना चाहिए।

२. महाकवि भारवि ने भी कहा है— "सहसा विदधीत न क्रियाम्" । (किरातार्जुनीयम्)

३. कई बार व्यक्ति अपने द्वारा किए गए कार्य के परिणाम से इतना दु:खी एवं पीड़ित होता हैं जैसे उसके हृदय में किसी ने विष से बुझा हुआ नुकीला बाण ही चुभा दिया हो।

४. उपमा और अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग हुआ है।

५. 'हृदय दाहि' से अभिप्राय 'वेदना अतिरेक' की अनुभूति से है।

६. मालिनी छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।

७. 'पण्डित' शब्द का प्रयोग 'बुद्धिमान्' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. गुण + मतुप् = गुणवत्, न गुणवत् इति अगुणवत् (नञ् समास)

२. √कृ + शतृ (तृतीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिंग) कुर्वता

३. परि + √नम् + क्तिन् (स्त्रीलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) परिणतिः

४. यत्न + तसिल् = यत्नतः

५. अव + √धृ + ण्यत् + टाप् (प्रथमा विभक्ति, एकवचन) अवधार्या

६. वि + √पच् + घञ् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) विपाकः

७. वि + √पद् + क्तिन् = विपत्तिः

८. हृदय + √दह् + णिनि (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) हृदयदाही

९. कर्मणाम् जातम् कर्मजातम् (षष्ठी तत्पुरुष)

१०. √जन् + क्त = जातम्

११. पण्डा + इतच् = पण्डित:

१२. √भू + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) भवति

स्थाल्यां वैदुर्यमय्यां पचति च लशुनं चन्दनैरिन्ध[१]नाद्यै:,
सौवर्णैर्लाङ्ग लाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतो:।
कृत्वा कर्पूरखण्डान् वृत्तिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्
प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्य:।।११५।।

अन्वय– य: मन्दभाग्य: मनुज: इमाम् कर्मभूमिम् प्राप्य, इह तप: न चरति, स: वैदुर्य्यमय्याम् स्थाल्याम् चन्दनै: इन्धनाद्यै: लशुनम् पचति, अर्कमूलस्य हेतो: सौवर्णै: लाङ्गलाग्रै: वसुधाम् विलिखति, कर्पूरखण्डान् कृत्वा कोद्रवाणाम् समन्तात् वृत्तिम् कुरुते।

अनुवाद– जो भाग्यविहीन व्यक्ति इस कर्मभूमि को प्राप्त करके यहाँ तपस्या का आचरण नहीं करता है, वह वैदूर्यमणि से निर्मित बटलोई में चन्दन आदि के इन्धनों के द्वारा लहसुन पकाता है, आक की जड़ से लिए सोने के हल के अग्रभागों के द्वारा पृथिवी को खोदता है, कर्पूर के टुकड़े करके कोदों (अन्न) के चारों ओर घेरा बनाता है।

व्याख्या– सामान्य रूप से मनुष्य-जीवन दुर्लभ है, साथ ही यह जीवन ईश्वर ने इस संसार में कर्म करने के लिए प्रदान किया है, इसलिए यह संसार वस्तुत: कर्मभूमि है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति इस कर्मभूमि रूपी संसार में आकर कर्म रूपी कठोर तप का आचरण नहीं करता है, अन्यान्य व्यर्थ के कार्य जैसे सोना, खाना, खेलना आदि कार्यों में ही अपना अमूल्य जीवन व्यतीत करता है, तो उसका यह जीवन पूर्णतया निरर्थक है और ये सब कार्य भी ठीक उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण और निरर्थक हैं, जैसे–

कोई व्यक्ति बहुमूल्य वैदूर्यमणिजटित बटलोई में चन्दन आदि बहुमूल्य लकड़ी के ईंधन को जलाकर लहसुन जैसी तुच्छ वस्तु को पकाने का कार्य करे अथवा उसका यह कार्य सोने जैसी मूल्यवान् धातु से बने हल के द्वारा आक की जड़ जैसी तुच्छ वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास करने जैसा अविवेकपूर्ण होगा।

उस व्यक्ति का यह कार्य, कोदों नामक खाद्यान्न जो जंगल में स्वत: ही उग आता है, की रक्षा के लिए कर्पूर के टुकड़ों से बाढ़ बनाने जैसा होगा।

अत: मनुष्य को इस संसार रूपी कर्मभूमि में आकर, मानवता की सेवा रूप प्रशंसनीय कार्यों में ही लिप्त रहना चाहिए, अपने समय को व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए।

---

१. पचति तिलकणानिन्धनैश्चन्दनाद्यै: (चन्दन के ईंधन से तिलकणों को पकाता है) इन्धनोत्नै (इन्धनों के समूह से)

विशेष– १. व्यक्ति को सांसारिक भोगों में आसक्त रहकर अपने मूल्यवान् जीवन को व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए।

२. संसार में जन्म लेकर भी यदि कोई व्यक्ति श्रेष्ठ कर्म नहीं करता है, तो वह अंभागा ही माना जाएगा।

३. स्रग्धरा छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियति युता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।।

४. कोदों अत्यन्त सामान्य प्रकार का अन्न जिसे तपस्वी वनों में प्रयोग करते हैं, क्योंकि यह वहाँ स्वत: उग आता है।

५. दीपक तथा काव्यलिंग अलंकार का प्रयोग हुआ है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. मन्दं भाग्यं यस्य स:, मन्दभाग्य: (बहुव्रीहि)
२. कर्मण: भूमि:, कर्मभूमि:, तम् कर्मभूमिम् (षष्ठी तत्पुरुष)
३. √चर् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) चरति
४. स्थाली + ङि (सप्तमी विभक्ति, एकवचन) स्थाल्याम्
५. √पच् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) पचति
६. सुवर्ण + अण् = सौवर्णम् (नपुं., तृतीया विभक्ति, बहुवचन) सौवर्णै:
७. लाङ्गलानाम् अग्रम् तै: (षष्ठी तत्पुरुष) लाङ्गलाग्रै:
८. अर्कस्य मूलम्, अर्कमूलम्, तस्य अर्कमूलस्य (षष्ठी तत्पुरुष)
९. वि + √लिख् + तिप् = विलिखति (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन)
१०. कर्पूरस्य खण्डान् = कर्पूरखण्डान् (षष्ठी तत्पुरुष)
११. √वृ + क्तिन् (स्त्रीलिंग, द्वितीया विभक्ति, एकवचन) वृत्तिः

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं,
विद्याऽपि नैव न च यत्नकृताऽपि सेवा।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानि,
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः।।११६।।

अन्वय– न एव आकृतिः फलति, न एव कुलम्, न शीलम्, विद्या अपि फलति न एव, यत्नकृता सेवा अपि न (फलति), च यथा वृक्षाः (तथा) एव पुरुषस्य पूर्वतपसा सञ्चितानि भाग्यानि खलु काले फलन्ति।

अनुवाद– न ही (सुन्दर) आकृति फलती है, न ही कुल, न शील। विद्या भी (फलवती) नहीं होती है और यत्नपूर्वक की गई सेवा भी नहीं (फलती है), (अपितु) जिस प्रकार वृक्ष (फलवान् होते हैं), (वैसे) ही पुरुष के पूर्व (जन्म) के तप के द्वारा सञ्चित भाग्य ही समय (आने) पर फलीभूत होते हैं।

व्याख्या– मनुष्य कितना ही सुन्दर क्यों न हो, कितने ही उच्च वंश में उसका जन्म क्यों न हुआ हो। कितना ही सदाचारी क्यों न हो, उसने कितने भी शास्त्रों का अध्ययन क्यों न किया हो अथवा कितने भी समर्पण भाव से तन्मयतापूर्वक दूसरों की सेवा क्यों न की हो, ये सब बातें व्यक्ति को शुभ फल प्रदान करने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् उक्त किसी भी कारण से लाभ एवं सुख की प्राप्ति ही हो यह अनिवार्य नहीं है।

अपितु व्यक्ति ने पूर्वजन्म में जिन कर्मों को तपस्यापूर्वक करते हुए अर्थात् शारीरिक कष्टों को सहन करते हुए इकट्ठा किया है, ऐसे पुण्य कर्मों द्वारा निर्मित भाग्य ही ठीक उसी प्रकार फल देने वाला होता है, जिस प्रकार उपयुक्त ऋतुकाल आने पर सभी वृक्ष फल देने वाले होते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि पूर्वजन्म में किए गए पुण्य कर्मों से ही व्यक्ति का भाग्य निर्माण होता है और वह भाग्य ही उपयुक्त समय पर व्यक्ति को सुख, उन्नति, यश, लाभादि प्रदान करने वाला होता है।

विशेष– १. मनुष्य के भाग्य का निर्माण भी पूर्वजन्म के कर्मों के द्वारा ही होता है।

२. मनुष्य की उन्नति, सुखादि में कुल, शील, विद्या, सेवा और सुन्दर आकृति आदि का कोई महत्त्व नहीं है।

३. कर्मफल के सिद्धान्त को वृक्ष का दृष्टान्त देकर समझाया गया है। अतः दृष्टान्त अलंकार–

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।

४. समय से पूर्व किसी भी कार्य का होना सम्भव नहीं है।

५. वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है–

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. आ + √कृ + क्तिन् (स्त्रीलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) आकृतिः
२. यत्नेन कृता, यत्नकृता (तृतीया तत्पुरुष) √यत् + नङ् = यत्न
३. पूर्वेण तपसा पूर्वतपसा (तृतीया तत्पुरुष)
४. सम् + √चि + क्त (नपुं., प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) संचितानि
५. √फल् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) फलन्ति
६. √विद् + क्यप् + टाप् = विद्या
७. न + एव + आकृतिः (वृद्धिरेचि, अकः सवर्णे दीर्घः)
८. यथा + एव= यथैव (वृद्धिरेचि) (आ + ए = ऐ)
९. √व्रंश्च् + क्स् = वृक्षः
१०. √भज् + ण्यत् = भाग्यम् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) भाग्यानि

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रुञ्जयत्वाहवे,
वाणिज्यं कृषिसेवनादि सकलाः विद्याः कला शिक्षतु।
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत् कृत्वा प्रयत्नं परः,
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः॥११७॥

अन्वय- (मनुष्यः) अम्भसि मज्जतु, मेरु-शिखरम् यातु, आहवे शत्रून् जयतु, वाणिज्यम् कृषि- सेवनादिसकलाः विद्याः कलाः शिक्षतु, परः प्रयत्नम् कृत्वा खगवत् विपुलम् आकाशम् प्रयातु, इह कर्मवशतः अभाव्यम् न भवति, भाव्यस्य नाशः कुतः।

अनुवाद- (मनुष्य) जल में डूब जाए, मेरु की चोटी पर चला जाए, युद्ध में शत्रुओं को जीत ले, व्यापार, कृषि, सेवा आदि सभी विद्याएँ (एवं) कलाएँ सीख ले, अत्यधिक प्रयत्न करके पक्षी के समान् विस्तृत आकाश में चला जाए, इस (संसार) में कर्म के वशीभूत अनहोनी नहीं होती, (तो फिर) होनी का नाश कैसे (सम्भव है)।

व्याख्या- कर्म फल पर आधारित होनहार होकर रहती है, उसे कोई भी रोकने में समर्थ नहीं है, ठीक इसी प्रकार अनहोनी किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती, भले में व्यक्ति जल में समा जाए अथवा सुमेरु पर्वत की चोटी पर भी क्यों न चढ़ जाए। युद्ध स्थल पर शत्रुओं पर प्राप्त विजय भी तभी सम्भव है जब वह होनहार हो, व्यापार, खेती अथवा सेवाकार्य आदि सभी कलाओं में निपुणता क्यों न प्राप्त कर ले। प्रयत्नपूर्वक पक्षी के समान आकाश में भी क्यों न उड़ने लगे, किन्तु इन सब बातों को देखकर इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि होता वही है जो होनहार होती है, जिसे होनी भी कहते हैं।

जो अनहोनी है, उसका किसी भी काल अथवा परिस्थिति में होना सम्भव नहीं होता।

विशेष- १. यहाँ अभाव्य से अभिप्राय अनहोनी से है तथा भाव्य से अभिप्राय होनी से है।

२. मनुष्य को इस संसार में जो भी सुख अथवा दुःख प्राप्त होता है, वह उसके पूर्वजन्म में किए गए कर्मों द्वारा प्राप्त भवितव्यता के सिद्धान्त के आधार पर ही होता है।

३. मनुष्य कोई भी असम्भव से असम्भव कार्य क्यों न कर ले, किन्तु भाग्य के सामने (जिसका निर्माण उसी द्वारा किए गए पूर्वजन्म के कर्मों से होता है), उसकी एक नहीं चलती। अतः व्यक्ति को सदैव श्रेष्ठ कार्य करने चाहिएँ।

४. शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है—

सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

५. यमक तथा दीपक अलंकार का प्रयोग दर्शनीय है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. √मज्ज् + तिप्(लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) मज्जतु
२. मेरोः शिखरम् मेरुशिखरम् (षष्ठी तत्पुरुष)
३. √शिक्ष् + तिप् (लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) शिक्षतु
४. √नश् + घञ् = नाशः (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)
५. √भू + ण्यत् = भाव्यम्
६. √नश् + घञ् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) नाशः
७. किम् + तसिल् = कुतः
८. वणिक् + ष्यञ् = वाणिज्यम्
९. √सेव् + ल्युट् = सेवनम्
१०. न भाव्यम् इति अभाव्यम् (नञ् समास)
११. खग + वतुप् = खगवत्
१२. √कृ + क्त्वा = कृत्वा
१३. मज्जतु + अम्भसि (इकोयणचि) (उ– व्)
१४. न + अभाव्यम् (अकः सवर्णे दीर्घः) अ + अ = आ)

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये,
महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा,
रक्षन्ति पुण्यानि पुरा कृतानि॥११८॥

अन्वय– पुरा कृतानि पुण्यानि सुप्तम्, प्रमत्तम्, विषमस्थितम्, वा (नरम्) वने, रणे, शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे, पर्वतमस्तके वा रक्षन्ति।

अनुवाद– पूर्व (जन्म) में किए गए पुण्य (कर्म) सोए हुए, असावधान अवस्था वाले अथवा विषम स्थिति वाले (मनुष्य की) वन में, युद्ध में, शत्रु, जल और अग्नि के बीच में. महासमुद्र में अथवा पर्वत की चोटी पर (भी) रक्षा करते हैं।

व्याख्या– मनुष्यों के पूर्वजन्म में किए गए पुण्य कर्मों से ही व्यक्ति के भाग्य का निर्माण होता है और वे पुण्य ही व्यक्ति की किसी भी कठिन परिस्थिति में सर्वत्र रक्षा करते हैं। भले ही व्यक्ति गहरी निद्रा में सोया हुआ हो, सावधान न हो अथवा किसी भी आपत्ति में क्यों न फँस गया हो, वन में जंगली जानवरों के बीच में भी क्यों न हो, शत्रुओं के बीच युद्ध स्थल पर ही क्यों न हो, गहरी नदी या समुद्र के जल में क्यों न खड़ा हो अथवा अग्नि के बीच ही क्यों न फँस गया हो, पर्वत की चोटी पर ही क्यों न स्थित हो, सर्वत्र उसके द्वारा किए गए पुण्य कर्म ही उसकी रक्षा करते हैं।

विशेष– १. पुण्य कर्म अप्रत्याशित ढंग से कठिन से कठिन परिस्थिति में भी व्यक्ति की रक्षा करते हैं। इसका प्रतिपादन बहुत सुन्दर ढंग से किया गया है।

२. सदैव व्यक्ति को पुण्य कर्म करने चाहिएँ, पाप कर्म नहीं।

३. कर्मफल के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

४. उपेन्द्रवज्रा छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण इस प्रकार है—

उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।

५. अनुप्रास अलंकार का प्रयोग दर्शनीय है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. शत्रुश्च जलं च अग्निश्च शत्रुजलाग्नयः तेषां मध्ये शत्रुजलाग्निमध्ये (द्वन्द्व समास)

२. महति अर्णवे = महार्णवे (सप्तमी तत्पुरुष) महान् अर्णवः तस्मिन् (कर्मधारय) = महार्णवे

३. पर्वतस्य मस्तके (षष्ठी तत्पुरुष) पर्वतमस्तके

४. √स्वप् + क्त = सुप्तम् (पुल्लिंग, द्वितीया विभक्ति, एकवचन)

५. प्र + √मद् + क्त (पुल्लिंग, द्वितीया विभक्ति, एकवचन) प्रमत्तम्

६. विषम + √स्था + क्त (पुल्लिंग, द्वितीया विभक्ति, एकवचन) विषमास्थितम्

७. वि + सम, विगतो विरुद्धो वा समः (प्रादि समास)

८. √रक्ष् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) रक्षन्ति

९. √कृ + क्त (नपुं., प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) कृतानि

१०. महा + अर्णवे (अकः सवर्णे दीर्घः, आ + अ = आ) महार्णवे

११. अर्णांसि सन्ति यस्मिन् = अर्णस् + व (सलोप) = अर्णवः

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं,
सर्वे[1] जनाः सुजनतामुपयान्ति तस्य।
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा,
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य।।११९।।

अन्वय– यस्य नरस्य विपुलम् पूर्वसुकृतम् अस्ति, तस्य भीमम् वनम् (अपि) प्रधानम् पुरम् भवति, सर्वे जनाः तस्य सुजनताम् उपयान्ति, कृत्स्नाः च भूः सन्निधिरत्नपूर्णा भवति।

अनुवाद– जिस मनुष्य का अत्यधिक पूर्व (जन्म) का पुण्य है, उसके (लिए)

---

१. सर्वः जनाः (सभी लोग)

भयंकर जंगल (भी) प्रमुख नगर हो जाता है, सभी लोग उसके (लिए) सज्जन हो जाते हैं और सम्पूर्ण पृथिवी समृद्धि और रत्नों से परिपूर्ण हो जाती है।

व्याख्या– जिस व्यक्ति ने पूर्व जन्म में श्रेष्ठ कर्म किए हैं, ऐसे पुण्यात्मा व्यक्ति के लिए कितना भी भयानक से भयानक वन क्यों न हो, उसके पुण्यों के प्रताप से वह भी उत्तम सुविधासम्पन्न महानगर बन जाता है। उनके प्रभाव से सभी लोग उसके लिए हितकर बन जाते हैं, इतना ही नहीं, अपितु वह जहाँ भी जाता है, समृद्धियाँ, ऐश्वर्य उसके साथ-साथ चलते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि व्यक्ति अच्छे कार्य करता है, तो उनसे उसे सदैव अच्छे फल की ही प्राप्ति होती है। कहीं भी किसी भी परिस्थिति में उसे कष्ट प्राप्त नहीं होता।

विशेष– १. व्यक्ति के अच्छे कर्मों से पुण्यों की तथा बुरे कर्मों से पापों की प्राप्ति होती है। अतः व्यक्ति को सदैव अच्छे कर्म करने चाहिएँ।

२. सुकर्मों के प्रताप से विपरीत परिस्थितियाँ भी अनुकूल हो जाती हैं। काव्यलिगं अलंकार का प्रयोग हुआ है।

३. वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण इस प्रकार है—

उक्ता वसन्ततिलका तभजाः जगौ गः।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. सन्तः निधयः सन्निधयः, रत्नैः पूर्णा रत्नपूर्णा सन्निधिरत्नपूर्णा

२. √अस् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) = अस्ति

३. उप + √इण् (गतौ) + झि (लट्लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) उपयान्ति

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी।
तथापि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता॥१२०॥

अन्वय– पुंसाम् फलम् कर्मायत्तम्, बुद्धिः कर्मानुसारिणी, तथापि, सुधिया सुविचार्य एव कुर्वता भाव्यम्।

अनुवाद– मनुष्यों को (प्राप्य) फल कर्म के अधीन है, बुद्धि (भी) कर्म का अनुसरण करने वाली है, फिर भी श्रेष्ठ बुद्धि वाले व्यक्ति को भली प्रकार विचार कर ही करते हुए होना चाहिए।

व्याख्या– इस संसार में व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसे वैसे ही फल की प्राप्ति होती है, ठीक इसी प्रकार व्यक्ति जैसे काम करता है, उसकी बुद्धि भी उसी प्रकार का चिंतन करके वैसी ही हो जाती है।

इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को सदैव भली प्रकार सोचविचार कर ही अर्थात् औचित्य, अनौचित्य आदि का चिंतन करके ही सद्बुद्धिपूर्वक ही कोई कार्य करना चाहिए।

विशेष– १. कर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। अतः व्यक्ति को सदा अच्छे कार्य करने चाहिएँ।

२. अच्छे काम करने से व्यक्ति की बुद्धि अच्छा विचार करेगी, जिससे उस व्यक्ति का व्यक्तित्व भी अच्छा बनेगा, क्योंकि व्यक्ति जैसा विचार करता है उसका व्यक्तित्व वैसा ही बनता है।

३. अनुष्टुप् छन्द है, लक्षण इस प्रकार है–

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं, सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विः चतुष्पादयोर्ह्रस्वं, सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. कर्मणाम् आयत्तम्, कर्मायत्तम् (षष्ठी तत्पुरुष)
२. कर्म अनुसरति इति कर्मानुसारिणी
३. अनु + √सृ + णिनि + ङीप् (प्रथमा विभक्ति, एकवचन) अनुसारिणी
४. सु + वि + √चर् + ल्यप् = सुविचार्य
५. भू + ण्यत् (नपुं., प्रथमा विभक्ति, एकवचन) भाव्यम्
६. √कृ + शतृ = कुर्वत् (पुल्लिंग, तृतीया विभक्ति, एकवचन) कुर्वता
७. सुधीः यस्य सः सुधी तेन सुधिया (बहुव्रीहि)
८. तथा + अपि (अकः सवर्णे दीर्घः, आ + अ = आ)
९. सुविचार्य + एव (वृद्धिरेचि– अ + ए = ऐ)

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः यं[1]कृत्वा नावसीदति॥१२१॥

अन्वय– आलस्यम् हि मनुष्याणाम् शरीरस्थः महान् रिपुः, उद्यमसमः बन्धुः न अस्ति, यम् कृत्वा (मनुष्यः) न अवसीदति।

अनुवाद– आलस्य मनुष्यों का शरीर में स्थित सबसे बड़ा शत्रु है। परिश्रम के समान (कोई) बन्धु नहीं है, जिसे करके (मनुष्य) दुःखी नहीं होता है।

व्याख्या– मनुष्य के शरीर में ही स्थित आलस्य उसका सबसे बड़ा शत्रु है। परिश्रम के समान मनुष्य का अन्य कोई श्रेष्ठ बन्धु नहीं है, यदि व्यक्ति परिश्रम करता है तो उसके बाद उसे कार्य की सफलता असफलता दोनों ही स्थितियों में दुःख नहीं होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्यतः शत्रु हानिकर होता है, किन्तु यदि वह शत्रु उसके अपने घर में ही बैठा हो तब तो बात ही क्या ? वस्तुतः आलस्य मनुष्य के अपने

---

१. यत् कृत्वा

घर रूपी शरीर में ही बैठा हुआ भयानक शत्रु है, जिससे सर्वाधिक हानि की सम्भावना है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति परिश्रमशील है, उनका सबसे अधिक हित करने वाला, उनका अपना भाई उनके पास ही है। यदि व्यक्ति परिश्रम करता है और उसे सफलता नहीं मिलती है। तो मनुष्य को कम से कम यह पश्चाताप तो नहीं होता कि मैंने परिश्रम नहीं किया था।

विशेष– १. मनुष्य को कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिए और सदैव परिश्रमशील बनना चाहिए।

२. आलस्य को मनुष्य का शत्रु और परिश्रम को मनुष्य का श्रेष्ठ बन्धु बताया गया है।

३. अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है, लक्षण पूर्ववत्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

१. शरीरे तिष्ठति इति शरीरस्थ:

२. उद्यमेन सम: उद्यमसम:

३. अव + √सद् + तिप् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) अवसीदति

४. न + अस्ति + उद्यमसम: + बन्धु: (अक: स्वर्णे दीर्घ:, इकोयणचि, हशिच)

परिशिष्ट

(क) संस्कृत व्याख्या

१. आद्यन्तः–

शिरः..शतमुखः।

२. संदर्भः–

प्रस्तुतभावपूर्णः श्लोकः महाकविभर्तृहरिविरचितात् 'नीतिशतकम्' नाम गीतिकाव्यात् उद्धृतोऽस्ति।

३. प्रसङ्गः–

श्लोकेऽस्मिन् महाकविना विवेकभ्रष्टानां पतनं अनेकप्रकारेण भवति, इति सोदाहरणं प्रतिपादितम्।

४. अन्वयः–

इयम् गंगा स्वर्गात् शार्वम् शिरः, पशुपति शिरस्तः क्षितिधरम्, उत्तुंगात् महीध्रात् अवनिम्, अवनेः च अपि जलधिम् (एवम् क्रमशः) अधः अधः स्तोकम् पदम् उपगता अथवा विवेकभ्रष्टानाम् विनिपातः शतमुखः भवति।

५. संस्कृत व्याख्या–

संसारेऽस्मिन् यदा मनुष्यः विवेकभ्रष्टः भवति तस्य पतनस्य तदानीं नैव काऽपि सीमा भवति विषयेऽस्मिन् गंगायाः उदाहरणमस्ति। एषा आरम्भे स्वर्गे वसति स्म सुखपूर्वकम्, किन्तु यदा एषा विवेकरहिता सञ्जाता तदा अस्याः पतनं कैलाशपर्वते विराजमानस्य शिवस्य शिरसि अभवत्, तस्मात् अपि स्थानात् हिमालये, किन्तु तत्रापि अस्याः स्थैर्यं सम्भवं न जातम्, तस्मात् उत्तुंगात्, स्थानात् सा पृथिव्यां पतिता। पुनः सा निम्नतमे स्थाने समुद्रे पतिता। यत्र सा अस्तित्वहीना सञ्जाता।

एवम् यः जनः विवेकरहितः भवति तस्य एतादृशी शोचनीया स्थितिरेव भवति। अतः जनः कदापि स्व विवेकं न परित्यजेत्।

७. विशेषः–

१. अस्य श्लोकस्य भाषा अतिसरला, भावबोधगम्या च वर्तते।

२. अत्र गंगायाः उपमा विवेकरहितेन जनेन सह प्रदत्ता।

३. शिखरिणी छन्दोऽत्र वर्तते, लक्षणमिदम्—

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।

७. व्याकरणात्मक टिप्पणयः-

१. शतम् मुखानि यस्य सः, शतमुखः (बहुव्रीहि)

२. वि + नि + पत् + घञ् (पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन)

२. उप + √गम् + क्त + टाप् = उपगता

३. विवेकात् भ्रष्टः, विवेकभ्रष्टः, तेषां विवेकभ्रष्टानां (पञ्चमी तत्पुरुष)

(ख) हिन्दी व्याख्या

१. आद्यन्त-

यद्धात्रा..जलम्।

२. संदर्भ-

प्रस्तुत श्लोक संस्कृत साहित्याकाश के देदिप्यमान नक्षत्र महाकवि भर्तृहरि द्वारा विरचित गीतिकाव्यों में अग्रणी 'नीतिशतकम्' नामक काव्य से अवतरित है।

३. प्रसङ्ग-

व्यक्ति को कभी भी धनवानों के सामने दीनहीन नहीं बनना चाहिए, अपितु धैर्य को धारण करना चाहिए। इसी बात को सोदाहरण समझाते हुए कवि कहता है कि—

शेष व्याख्या श्लोक संख्या के अनुसार अन्वय हिन्दी अनुवाद, व्याख्या, विशेष और व्याकरणात्मक टिप्पणी आदि शीर्षकों के अन्तर्गत करनी चाहिए।

इस विषय में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि छात्रों को व्याख्या में विस्तार उतना ही देना चाहिए जितने विस्तार की उन्हें समय अनुमति प्रदान करे। यदि उन्हें ऐसा प्रतीत हो कि समय कम है तो उन्हें हिन्दी अनुवाद लिखने की आवश्यकता नहीं है। विशेष और व्याकरणात्मक टिप्पणियों में भी अपेक्षाकृत कम लिखा जा सकता है। ध्यान रहे परीक्षा में निर्धारित समय के अन्तर्गत सम्पूर्ण प्रश्न-पत्र का हल करना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(ग) विद्वत्पद्धति का सारांश

नीतिशतकम् में कवि ने एक ही विषय को लेकर कुछ श्लोकों की संरचना की है तथा उन्हें एक साथ संग्रह कर दिया गया। ये संग्रहित श्लोक ही तत्तत् पद्धति के नाम से कहे गये हैं। यहाँ हम विद्वत्पद्धति का संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं। छात्रों को इसी प्रकार अन्य पद्धतियों का सारांश लिखने का भी अभ्यास करना चाहिए।

जिस राजा के राज्य में शिष्यों को देने योग्य शास्त्रों से सम्पन्न, उत्कृष्ट काव्य निर्माण में निपुण, विद्वान्, कवि निर्धन अवस्था में रहते हैं। यह तो उस राजा की ही मूर्खता कही जाएगी, क्योंकि कवि तो बिना धन के भी ऐश्वर्यसम्पन्न होते हैं। कवि जैसी मणियों को न पहचानने के लिए राजा जैसे जौहरी ही दोषी माने जाने चाहिएँ।

ऐश्वर्य सम्पन्न लोगों को विद्वानों का आदर करना चाहिए, क्योंकि उनके पास तो विद्या नामक अद्भुत गुप्त धन है और इस धन की विशेषता है कि यह सदा कल्याणों को ही देता है और साथ ही अधिकाधिक दान देने पर यह बढ़ता ही है।

कवि ने परिष्कृत वाणी को ही सर्वश्रेष्ठ आभूषण बताया है—

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला:,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजा:।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्।।२०।।

विद्याविहीन व्यक्ति तो पशु ही होता है। इसलिए व्यक्ति को सदैव विद्या अध्ययन करना चाहिए। विद्या में अनेक विशेषताएँ हैं। यह मनुष्य का छिपा हुआ खजाना है। यह यश, सुख और भोगों को देने वाली है। राजा भी विद्या की ही पूजा करते हैं धन की नहीं।

इसी प्रकार यदि व्यक्ति में श्रेष्ठ कविता बनाने की सामर्थ्य है तो उसके लिए राज्य भी बेकार है।

सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम्?

मनुष्य को यदि इस संसार में सफलता प्राप्त करनी है तो उसे कुछ बातों का विशेष ध्यान देना चाहिए जैसे— दुष्टों से सदैव दुष्टतापूर्वक, सेवकों के साथ दयापूर्वक, विद्वानों के साथ सरलतापूर्वक तथा बंधुजनों के प्रति उदारतापूर्वक व्यवहार करना चाहिए।

इसी प्रकार व्यक्ति को सदैव अच्छे लोगों की संगति ही करनी चाहिए, क्योंकि सत्संगति से व्यक्ति सत्य बोलना सीखता है, पापों से दूर रहता है तथा उसका सर्वत्र यश प्रसारित होता है—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पामपाकरोति।
चेत: प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।।२४।।

जिन लोगों के पास विद्या नहीं है, दान नहीं करते, तपस्या का आचरण नहीं करते उन्हें कवि ने मनुष्य रूप में विचरण करते हुए पशु ही बताया है। ठीक इसी प्रकार साहित्य, संगीत और कला से रहित व्यक्ति भी पूँछ और सींग से रहित साक्षात् पशु ही है—

> **साहित्य-संगीत-कला-विहीनः,**
> **साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।**
> **तृणं न खादन्नपि जीवमानः,**
> **तद् भागधेयं परमं पशूनाम्।।१३।।**

इसी प्रकार राजाओं को कभी भी विद्वानों का अपमान नहीं करना चाहिए। लक्ष्मी तो ऐसे पण्डितों के लिए तिनके का समान है। राजा यदि क्रोधित भी होता है तो अधिक से अधिक विद्वान् को अपने राज्य से निष्कासित कर सकता है, किन्तु उसकी योग्यता, क्षमता, विद्वत्ता आदि को तो किसी भी स्थिति में उससे नहीं ले सकता है। रससिद्ध कवियों के यशः शरीर में वृद्धावस्था और मरणादि से उत्पन्न भय नहीं होता है। अतः वे श्लाघनीय हैं।

(घ) शब्दार्थ

अंकितः = चिह्नित, अकरुणत्वम् = निर्दयता, **अकारणविग्रहः** = बिना कारण झगड़ा, **अखिलाः** = सम्पूर्ण, **अज्ञः** = न जानने वाला, **अज्ञतायाः** = मूर्खता का, **अतिरभसा** = अत्यन्त वेग से, **अत्ति** = खाता है, **अथ** = इसके पश्चात्, और **अधः** = नीचे, **अधिगतपरमार्थान्** = प्राप्त कर लिया है परमतत्त्व को जिसने, **अनक्षरम्** = विद्या रहित, **अनवच्छिन्न** = आच्छादित न किए जा सकने वाले, **अनवद्या** = प्रशंसनीय, **अनवेक्षणात्** = बिना देखभाल से, **अनिशम्** = निरन्तर, **अनुत्सेकः** = अभिमान न होना, **अनुपहतविधिः** = जिसके विधान का खण्डन नहीं किया जा सकता, **अनुयाहि** = अनुसरण करो, **अनुव्रताः** = अनुकूल क्रिया, **अनैकान्त्यात्** = अनेक अवस्था वाला होने से, **अन्तर्धनम्** = गुप्तधन, **अपहर्तुम्** = अपहरण करने के लिए, **अपाकरोति** = दूर करती है।

अप्रगल्भः = असहासी, **अप्रतिहताः** = न रुकने वाली, **अभिजनः** = उत्तम कुल में उत्पन्न, **अभिजातः** = कुलीन, **अभियोगः** = परिश्रम, **अभ्यर्चनीया** = पूजनीय, **अभ्युदये** = उन्नति में, **अम्भोद वर** = श्रेष्ठ बादल, **अम्भसि** = जल में, **अम्भोजिनी** = कमलिनी, **अर्घतः** = मूल्य से, **अर्थपरा** = धन प्रदान करने वाली, **अर्थिभ्यः** = याचकों को, **अर्थिसु** = याचकों में, **अर्थोष्मणा** = धन की गर्मी के द्वारा, **अवगतम्** = जाना, **अवञ्चकः** = धोखा न देने वाला, **अवदात्** = उज्ज्वल, स्वच्छ, **अवधार्या** = विचार की जानी चाहिए,

अवमंस्थाः = अपमान करो, **अवलिप्तता** = अभिमान, **अवाप्त-विभवस्य** = प्राप्त किया है ऐश्वर्य को जिसने, **अविकलानि** = पूर्ण, **अवेक्ष्य** = देखकर, **अशेष गुणाकरम्** = सम्पूर्ण गुणों की खान, **असुभङ्गे** = प्राणों के नष्ट होने पर, **असून्** = प्राणों को, **अस्थायिन्यः** = अस्थायी, **अस्थिकम्** = हड्डी का टुकड़ा, **अहह** = आश्चर्यसूचक।

आखुः = चूहा, **आगमा** = शास्त्र, **आढ्य** = धनी, **आत्मदमने** = आत्म नियन्त्रण में, **आदौ** = पहले, **आपदि** = आपत्ति में, **आपन्नः** = प्राप्त हुआ, **आयसि** = लोहे पर, **आराधयेत्** = प्रसन्न कर सकता है, **आराध्यः** = प्रसन्न करने योग्य, **आर्जवम्** = सरलता, **आर्द्रयन्ति** = भिगोते हैं, **आविपत्तेः** = मृत्युपर्यन्त, **आशु** = शीघ्र ही, **आश्रयन्ते** = आश्रय में रहते हैं, **आसादयेत्** = प्राप्त कर ले, **आस्थाम्** = श्रद्धा को।

इतः = इधर से, **इनकान्तः** = सूर्यकान्त मणि, **इष्टद** = इच्छित वस्तु को देने वाला, **इह** = यहाँ, **इहते** = चाहता है, **ईदृशी** = ऐसी, **उज्झत** = छोड़ दो, **उत्पलकोमलम्** = कमल के समान कोमल, **उत्तुंगात्** = ऊँचे से, **उद्गच्छत्** = ऊपर उठती हुई, **उद्दिष्टम्** = बताया गया है, **उद्धत** = अहंकारी, **उद्धरेत्** = निकाल ले, **उन्नमन्तः** = ऊपर उठते हुए, **उद्भासित** = प्रकाशित, **उन्मनः** = व्याकुल, **उपकृतेः** = उपकार का, **उपक्षमः** = शान्ति, **उपचीयते** = बढ़ जाता है, **उपयान्ति** = प्राप्त होते हैं, **उपाश्रयेण** = सहारा लेने से, **ऊर्जितम्** = बलवान्, **एकान्तगुणम्** = केवल गुण स्वरूप, **एतादृशाः** = ऐसे, **ओघः** = समूह।

कः अर्थः = क्या लाभ, **कंकोल** = शीतल चीनी, **कदर्थितस्य** = पीडित, **कन्थाधारी** = गुदड़ी धारण करने वाला, **कन्दुकः** = गेंद, **कमठपतिना** = कछुओं के स्वामी के द्वारा, **करण्ड** = पिटारी, **कर्मभूमिम्** = संसार को, **कर्मायत्तम्** = कर्मों के अधीन, **काचित्** = कोई स्त्री, **काले** = समय पर, **कार्पण्योक्ति** = दीनता से युक्त कथन, **कार्यार्थी** = कार्य करने का इच्छुक, **किञ्चिज्ज्ञः** = कुछ जानने वाला, **किमु** = प्रश्नवाचक अव्यय, **कियन्तः** = कितने, **कुत्स्याः** = निन्दा के योग्य, **कुपरीक्षकाः** = खराब परीक्षक, **कुम्भकवल** = मस्तक का टुकड़ा, **कुरंगायते** = हिरण के समान हो जाता है, **कुर्वता** = करते हुए, **कुलालवत्** = कुम्हार के समान, **कुलिश प्रहारैः** = वज्र के प्रहारों से, **कुल्यायते** = छोटी सी नहर के समान हो जाता है।

कृच्छगतः = कष्ट में पड़े हुए, **कृत्स्नम्** = सम्पूर्ण, **कृथाः** = करो, **कृमिकुलचितम्** = कीड़ों के समूह से व्याप्त, **कृशानुताप** = अग्नि का ताप, **केयूराणि** = बाजूबन्द, **कैतवम्** = धूर्तता, **कैरवचक्रवालम्** = कुमुद समूह, **कोद्रवाणाम्** = कोदों (अन्न) के, **क्रोडाधीनम्** = गोद में, **क्षयिणी** = क्षीणता से युक्त, **क्षान्तिः** = क्षमा, **क्षितिधेनुम्** = पृथ्वी रूपी गाय को, **क्षुत्क्षामाः** = भूख से दुर्बल, **क्षीयन्ते** = नष्ट हो जाते हैं, **खलोपासनात्** = दुष्टों की सेवा से, **खादन्** = खाते हुए, **ख्यापयन्तः** = प्रकाशित करते हुए, **गुर्वी** = लम्बी, **गुह्यम्** = गोपनीय, **गोचरगतैः** = इन्द्रियों का विषय बने हुए।

चाटुल: = बहुत बोलने वाला, **छिन्धि** = काटो, **छेत्तुम्** = काटने के लिए, **छादनम्** = छिपाने वाला, **जम्बुकम्** = गीदड़ को, **जल्पक:** = बकवादी, **जहि** = छोड़ दो, **जुह्वानम्** = हवन करते हुए को, **जाड्यम्** = मूर्खता को, **जातेन** = उत्पन्न होने से, **जानीमहे** = हम जानते हैं, **जायते** = उत्पन्न होता है, **जीवमान:** = जीवित रहता हुआ, **जुगुप्सितम्** = घृणित, **ज्ञाति:** = सम्बन्धी।

तनिम्ना = दुबलेपन से, **तुतुषु:** = संतुष्ट हुए, **तृणलवप्राया:** = तिनके के टुकड़े के समान, **दंष्ट्रांकुर** = दाढ़ का अग्रभाग, **दम्भ:** = अभिमान, **दरी** = कुरूप, गुफा, **दाक्षिण्यम्** = उदारता, **दिवसधूसर:** = दिन में भलिनकान्ति, **दुधुक्षसि** = दुहना चाहते हो, **दुर्गत:** = दुर्दशा को प्राप्त, **दुर्विदग्ध:** = अभिमानी (व्यक्ति), **दौर्मन्त्र्यात्** = बुरी सलाह से, **धरित्रीम्** = पृथ्वी को, **धात्रा** = विधाता ने, **धीवर:** = मछुआरा, **धृष्ट:** = ढ़ीठ, **ननु** = निश्चयपूर्वक, **निकृतिम्** = अपमान को, **निघ्नन्ति** = नष्ट करते हैं, **नितराम्** = अत्यधिक, **निधनम्** = नाश को, **निपत्य** = गिरकर, **निर्घृणता** = निर्दयता, **निर्व्याजता** = निष्कपटता, **निवारयति** = रोकता है, **निवृत्त:** = हटा हुआ, **निशितांकुशेण** = तीक्ष्ण अंकुश से।

पक्षच्छेद: = पंखों का कटना, **पञ्चषा:** = पांच, छः, **पत्तने** = नगर में, **पयसां पत्यु:** = जलों के स्वामी, **परार्थम्** = दूसरों के लिए, **परिक्षीण:** = निर्धन, **परिग्रहफल्गुताम्** = ग्रहण की गई वस्तु की निस्सारता को, **परितुष्यति** = व्याकुल होती है, **परित्यज्य** = त्यागकर, **परिवाद** = निन्दा, **परिस्फुरित** = देदीप्यमान, **परिहर्तव्या** = त्यागने योग्य, **पयोनिधौ** = समुद्र में, **पर्यंकम्** = पलंग को, **पर्यटन्** = घूमते हुए, **पर्वतीकृत्य** = पर्वत के समान बनाकर, **पादाक्रान्त** = पैरों (किरणों) से व्याप्त, **पिण्डदस्य** = अन्न देने वाले के, **पिपासार्दित:** = प्यास से व्याकुल, **पिशुनता** = चुगलखोरी, **पीडयन्** = दबाता हुआ, **पीयूष** = अमृत, **पुरत:** = सामने, **पुरा** = पहले, **पुषाण** = पुष्ट करो, **पुष्णाति** = पुष्ट करता है, **प्रच्छादय** = छिपाओ, **प्रच्छन्नम्** = अत्यन्त गुप्त, **प्रणयिता** = अनुराग करने वाला, **प्रतिनिविष्ट** = दुराग्रही और हठी, **प्रतिपाद्यमानम्** = दिया जाता हुआ, **प्रथयति** = विस्तार करती है, **प्रभवति** = प्रभावशाली होता है, **प्रमादात्** = आलस्य से, **प्रमार्ष्टुम्** = मिटाने के लिए, **प्रययु:** = प्राप्त हुए, **प्रविचलन्ति** = विचलित होते हैं, **प्रसह्य** = बलपूर्वक, **प्रसादोन्मुख:** = अनुग्रहशील, **प्रसृतये** = अंजलि के लिए, **प्रहरणम्** = अस्त्र, **प्राज्ञ:** = बुद्धिमान्, **प्राणाघातात्** = प्राणों के विनाश से, **प्रीणयन्त:** = प्रसन्न करते हुए, **प्रीणयेत्** = प्रसन्न करे, **बलभित्** = इन्द्र, **ब्रूहि** = बोलो,

भिक्षाटनम् = भिक्षा के लिए घूमना, **भागधेयम्** = सौभाग्य, **भाव्यम्** = जो होना है, **भुङ्क्ते** = खाता है, **भूरि** = अनेक, **भोगकरी** = भोगों को देने वाली, **भोगिन:** = सर्प, **भ्राम्यति** = घूमता है, **मज्जतु** = डूब जाए, **मण्डिता** = सुशोभित, **मतिमताम्** = बुद्धिमानों की, **महार्णवे** = समुद्र में, **महार्है:** = बहुमूल्य, **मानोन्नतिम्** = सम्मान और उन्नति को,

मार्जितुम् = पोंछने के लिए, **मूकभावः** = चुप रहना, **मूर्धजाः** = केश, **मूर्ध्नि** = सिर पर, **मृगाश्चरन्ति** = पशु विचरण कर रहे हैं, **म्लानेन्द्रियस्य** = शिथिल इन्द्रियों वाले का।

यथेष्टम् = इच्छानुसार, **यशः काये** = यश रूपी शरीर में, **योजयते** = लगाता है, **रञ्जयति** = प्रसन्न करता है, **रजताद्रिणा** = चाँदी के पर्वत द्वारा, **रुचिराकारः** = सुन्दर आकृति वाला, **रोद्धुम्** = रोकने के लिए, **लब्ध्वा** = प्राप्त करके, **लाङ्गलाग्रैः** = हलों के अग्रभागों द्वारा, **लाङ्गूल** = पूँछ, **लालनात्** = लाड प्यार से, **लालाक्लिन्नम्** = लार से भीगा हुआ, **लुनन्ति** = काटते हैं, **लुब्धक** = बहेलिया, **लोकस्थितिः** = लोक मर्यादा, **लोकापवात्** = लोक निन्दा से।

वनचरैः = वनवासियों के द्वारा, **वयः** = आयु, **वहल** = घनी, **वाञ्छति** = चाहता है, **वाञ्छा** = इच्छा, **वारणम्** = रोकने वाला, **वारणानाम्** = हाथियों का, **वाराङ्गना** = वेश्या, **विकचीकरोति** = खिलाता है, **विगन्धि** = दुर्गन्धयुक्त, **वित्तवत्सु** = धनवानों में, **विद्याख्य** = विद्यानाम वाला, **विद्यावदातम्** = विद्या से उज्ज्वल, **विनिपातः** = पतन, **विनिर्मितम्** = बनाया गया, **विभाति** = सुशोभित होता है, **विमतिता** = बुद्धिहीनता, **विमृशन्तः** = सोचते हुए, **विरमन्ति** = रुक जाते हैं, **विलिखति** = खोदता है, **विलोकयति** = देखता है, **विशिखाः** = बाण, **विशीर्यते** = नष्ट हो जाता है, **विषमम्** = कठोर, **विषये** = राज्य में, **विष्टपं** = संसार, **विहीनम्** = रहित, **वैदग्ध्यकीर्तिम्** = निपुणता के यश को, **व्यालं** = हाथी को, **व्यसनम्** = शौक, **व्यपगत** = दूर हो गया।

शक्त्या = शक्ति के अनुसार, **शतमुखः** = सैकड़ों प्रकार से, **शल्यतुल्यः** = कांटे के समान, **शाठ्यम्** = दुष्टता, **शाणोल्लीढः** = शान पर चढ़ाई हुई, **शाम्यति** = शान्त हो जाता है, **शार्वम्** = शिव को, **शाल्योदन** = भात, **शास्त्रोपस्कृत** = शास्त्रों द्वारा शोधित, **शिखरिणाम्** = पर्वतों का, **शीर्यते** = नष्ट हो जाती है, **शीर्षावशेषाकृतिः** = सिर मात्र शेष आकृति वाला, **शीलम्** = अच्छा स्वभाव, **शुचौ** = पवित्रता में, **शैलतटात्** = पर्वत की चोटी से, **श्यानपुलिनाः** = सूखे तटों वाली, **श्वा** = कुत्ता, **श्रुतौ** = वेदों में, **श्रूयताम्** = सुनो।

संघात = समूह, **संदह्यताम्** = जला डाले, **संनह्यते** = सन्नद्ध होता है, **संरुणद्धि** = रोकती है, **सञ्चितानि** = एकत्रित, **सन्** = होते हुए, **सत्त्ववतां** = शक्तिशाली लोगों का, **सत्वानुरूपम्** = स्वभाव के अनुरूप, **सदसि** = सभा में, **सन्तप्यन्ते** = दुःखी होते हैं, **समक्रियाम्** = समान आचरण वाला, **समन्तात्** = चारों ओर, **समाविशतु** = प्रवेश करे, **समुन्मीलति** = प्रकट होता है, **सम्पातः** = गिरना, **सम्भाविताः** = प्रतिष्ठित।

सिकतासु = बालू में, **सिञ्चति** = सींचती है, **सुकृत** = अच्छी प्रकार किया गया, **सुकृतिनः** = पुण्यात्मा, **सुचरितैः** = सुन्दर आचरणों से, **सुजनता** = सज्जनता,

सुधास्यन्दिभिः = अमृतवर्षी, **सुरतमृदिता** = सम्भोग में मर्दन की गई, **सूनुः** = पुत्र, **सूर्यातपः** = सूर्य की धूप, **सृजति** = रचना करता है।

स्पृष्टः = स्पर्श किया गया, **स्युः** = होने चाहिएँ, **स्पृहा** = इच्छा, **हतविधेः** = दुष्ट विधाता, **हर्तुः** = हरण करने वाले के, **ह्रीमति** = लज्जा से, **हुतभुक्** = अग्नि, **हेतिनिहतः** = शस्त्रों द्वारा घायल।

श्लोकानुक्रमणिका